रंग संवाद

अप्रैल-जून 2011

वनमाली सृजन पीठ (भोपाल) की
संवाद पत्रिका

प्रधान संपादक

संतोष चौबे

संपादक

विनय उपाध्याय

vinay.srujan@gmail.com

संपादक मंडल

राजेश जोशी, राम प्रकाश, मुकेश वर्मा,
महेन्द्र गगन, बलराम गुमास्ता, राकेश सेठी

कम्पोजिंग : मुकेश सेन

मुख्य आवरण चित्र : नाटक - **'कनुप्रिया'**, छाया - तनवीर
अंतिम आवरण चित्र : बैले - **प्रतिबिंब**, छाया - विजय रोहतगी
भीतर के छायाचित्र : विजय रोहतगी, नीरज रिछारिया, सौरभ अग्रवाल,
प्रवीण दीक्षित, सौरभ अनंत, आमीन शेख तथा ताज़नूर

आकल्पन : विनय उपाध्याय

संपादकीय संपर्क :
वनमाली स्मृति सृजन पीठ,
22, E-7, अरेरा कॉलोनी,
भोपाल-462016
फोन : 0755-2423806, मोबाइल : 9826392428
ई-मेल : vanmalisrijanpeeth@gmail.com

जरूरी नहीं कि पत्रिका में संग्रहित आलेखों-चित्रों में व्यक्त रचनाकारों के विचारों से 'रंग संवाद' सहमति हो। किसी भी विवाद के लिए न्यायिक क्षेत्र भोपाल रहेगा।

वनमाली सृजन पीठ, भोपाल द्वारा प्रकाशित।
मुद्रक - पहले पहल प्रिंटरी, 25-ए, प्रेस कॉम्प्लेक्स, भोपाल

इस अंक में

● रंगमंच की बदलती भाषा ● प्रतिरोध की आवाज़
● क्लासिक : अंधा युग ● नाटक सदा एक नई आहट
● भूमंडलीकरण का भक्ति गीत ● रंगभूमि पर रौशनी
● निमाड़ का 'काठी' ● रंगपटल पर आँचल पसारती कविता
● जीवन सिर्फ देह नहीं आत्मा भी ● अमूर्त की संवाहक कला
● वनमाली सम्मान समारोह ● अंतर्लय को पुकारती आवाज़
● ठौर-ठौर के रंग ● कनुप्रिया ● खाला कमाल की
● पुनः भीमबैठका ● अस्वाद और आकलन ● पाठक संवाद

स्मृति शेष

बादल सरकार

मणि कौल

मक़बूल फिदा हुसेन

शिवराम

कमला प्रसाद

संपादकीय...

कला में नई रचनात्मकता के मायने

पिछले दिनों मैं युवा कथाकारों की एक संगोष्ठी में था। कई प्रतिनिधि युवा कथाकार तथा कुछ वरिष्ठ साहित्यकार भी उसमें उपस्थित थे। सवाल यह था कि युवा कहानी की सामाजिकी क्या है? और क्या वह आज की जटिलताओं को पकड़ पा रही है और उन्हें ठीक से प्रस्तुत कर पा रही है? सभी युवा रचनाकारों का आग्रह था कि उन्हें नई तरह से समझा जाए और इस बीच उन्होंने काफी कुछ नया किया है जिसे समझने की सामर्थ्य और उसे समझने के उपकरण वर्तमान आलोचना के पास नहीं है। मैं हिन्दी कहानी में आलोचकों की वर्तमान स्थिति की तरफ जाना नहीं चाहता; वो एक अलग ही विषय होगा, लेकिन थोड़ा ठहर कर नयेपन के आग्रह का विश्लेषण करना चाहता हूँ।

जाहिर है इसके लिये हमें कुछ कहानियों का सहारा लेना पड़ेगा। मैंने भी समझने के लिए दस कहानियों को चुना; आंखें (वंदना राग), पतंग (गौरव सौलंकी), तीन सहेलियां तीन प्रेमी (आकांक्षा पारे), चौथमल मास्साब और पूस की रात (पंकज सुबीर), चकदे इंडिया (कैलाश बनवासी), खरपतवार (मनीषा कुलश्रेष्ठ), लुत्फ (मोहम्मद आरिफ) शहर की खुदाई में क्या कुछ मिलेगा (चंदन पाण्डे), मोनिका फिर याद आई (वंदना राग), चलो जी किस्सा मुख़्तसर (प्रत्यक्षा) और इन कहानियों को पढ़कर सोचना शुरू किया कि इनमें नया क्या है और उस नये में अच्छा क्या है। सबसे पहली बात जो आपको युवा कहानी में दिखेगी वह है स्त्री-पुरुष संबंधों की, परत-दर-परत, गहरी पड़ताल और उसमें स्त्री के पक्ष का विशेष उभार, संबंधों और विचार में खुलापन। लेकिन इसके एकदम बाद आप देखते हैं कि इन्हीं कहानियों में विद्रूपता, मन की भीतरी अस्थिरता, अकुलाहट और रुग्णता साथ-साथ उपस्थित हैं। भाषा और तकनीक के साथ बहुत सारे प्रयोग किये जा रहे हैं लेकिन नेरेटिव विवरण से लदा पड़ा है जो कम्प्यूटर और मोबाइल की संस्कृति से कहानी में चले आये हैं। कहानी में बहुत सारे डिवाइसिस प्रयोगात्मकता के स्तर पर हैं लेकिन पठनीयता के स्तर पर ये कम ही मुझे आकर्षित कर पाए। सबसे बड़ी दिक्कत जो इन कहानियों में मुझे लगती है वह है उनमें इंटेसिटी का अभाव, ऐसी इंटेसिटी जो गहरे आत्मसंघर्ष से आती है, एक लम्बी यात्रा पर निकलने से आती है चाहे वह यात्रा बाहर की हो या अन्दर की। दूसरी बात जीवन में तमाम विद्रूपताओं के बावजूद एक पवित्र आनंद और उल्लास भी तो होता है वह इन कहानियों में कहाँ है? कहानी में कहानीपन, एक तरह का जादू, एक सतत जिज्ञासा, नाटकीयता क्या नहीं होनी चाहिये? संक्षेप में जब यथार्थ कहानी में आये तो क्या बीच में 'कला' को मीडियेट नहीं करना चाहिये?

इसी पृष्ठभूमि में मैंने हिन्दी कहानी के इतिहास पर विचार किया और मुझे लगा कि पिछले सौ वर्षों में कहानी में दो या तीन प्रस्थान बिन्दु खोजे जा सकते हैं जहां से नवीनता की अकांक्षा ने जन्म लिया। स्वतंत्रता प्राप्ति के पूर्व कहानी एक तरह की नवजागरण और मानवीय मूल्यों से ओतप्रोत कहानी थी जिसमें स्वतंत्रता प्राप्ति का स्वप्न भी कौंध जाता था। सभी रूढ़ियाँ, सभी कुप्रथाएँ और विषमताएँ इसके निशाने पर थीं। उम्मीद थी कि स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद कई स्वप्न पूरे होंगे। लगभग 15 वर्षों तक यह आस बनी भी रही, लेकिन उसके बाद धीरे-धीरे चीन से युद्ध में हमारी पराजय, लोकतांत्रिक

संस्थाओं के विघटन और इमरजेंसी के दौर से गुज़रते हुए कहानी ने अपनी मेलोडी को छोड़ते हुए विद्रोह के स्वर अपनाये जो कई कथा आन्दोलनों के सबब बने। नई कहानी से गुज़रते हुए प्रगतिशील तथा जनवादी विमर्श तक, कहानी ने अपने तेवरों और अपनी भाषा में नया स्वरूप ग्रहण किया। देश के इतिहास में तीसरी नई प्रक्रिया नब्बे के दशक से शुरू होती है जब सोवियत रूस का विघटन होता है और देश में वैश्वीकरण तथा एक-ध्रुवीकरण की प्रक्रिया का उदय होता है। सूचना तकनीक के आगमन ने इस प्रक्रिया को और तेज किया तथा कुहासे को और गहरा, इससे कहानी में एक तीसरे मोड़ की गुंजाइश पैदा होती है।

वह मोड़ क्या हो सकता है उस पर विचार करने से पहले देखें कि पिछले 50 वर्षों में प्रगतिशील और जनवादी आलोचना ही हमारी कहानी के केन्द्र में रही और निर्मल वर्मा तथा अज्ञेय को छोड़ दें तो कमोबेश सभी कथाकारों का आकलन उसी के आधार पर किया जाता रहा। कार्ल पॉपर नाम के प्रख्यात समाज शास्त्री हुए हैं जो विचारधारा से धुर मार्क्सवाद विरोधी थे और जिन्होंने अपने एक बहुत छोटे से आलेख से मार्क्सवाद पर प्रश्नचिन्ह खड़ा किया था। उनका मानना था कि सामाजिकी के स्तर पर मार्क्सवादी विमर्श असफल हो जाता है क्योंकि जिस तरह के समाज की वो आलोचना करता है समाज वैसा है ही नहीं, कि समाज में मां-बेटे, भाई-बहन, पत्नी-दोस्त, प्रेम-दुश्मनी यानी सामाजिक संबंधों का आधार वैसा नहीं जैसा कि मार्क्सवादी विमर्श हमें समझाने की कोशिश करता है। वहीं दूसरे मार्क्सवादी विचारक टेरी इगल्टन का मानना है कि मार्क्सवाद हमें एक मेक्रो पर्सपेक्टिव या वृहद दर्शन प्रदान करता है। चीन यदि पूंजीवाद के रास्ते पर चल पड़ा है और बर्लिन की दीवार यदि गिर गई है तो इसका यह अर्थ नहीं है कि कला और साहित्य को देखने की जो दृष्टि यानी द्वंद्वात्मक दृष्टि मार्क्सवाद ने हमें प्रदान की थी वह विफल हो गई है। हालांकि वे यह भी कहते हैं कि विचारधारा सत्य को उद्घाटित भी करती है और उसे छुपाती भी है। यह कला ही है जो विचारधारात्मक सत्य के भीतर घुस कर विचारधारा की कमियों को भी उद्घाटित कर सकती है। इसे इस तरह भी कह सकते हैं कि कला से एक तरह के कलात्मक सत्य की अपेक्षा की जाती है जो विचारधारात्मक सत्य से अलग होता है।

मार्क्सवादी विमर्श की जगह अब वैश्वीकरण के विमर्श ने ले ली है। कहा जा रहा है कि एक-ध्रुवीकरण की प्रक्रिया पूरे विश्व में जारी है, एक तरह की संस्कृति, एक तरह के मूल्य, एक तरह की भाषा, एक तरह के विचार और सब कुछ पूंजी के आर्सपास सिमटा हुआ। जैसा कि थामस फ्रीडमेन ने कहा- "the world is flat" यानी दुनिया समतल है। पर हमारे देश पर एक सरसरी निगाह भी यह सिद्ध कर देगी की भारत समतल नहीं है, दसियों भाषाओं, सैकड़ों बोलियों, प्रादेशिक, सांस्कृतिक अस्मिताओं और लम्बी सामाजिक, सांस्कृतिक परंपरा के चलते वह समतल हो भी कैसे सकता है? भारत में कोई भी कला जो नये पन का आग्रह लिये आयेगी वह इस संस्कृतिक विविधता और परंपरा की अनदेखी नहीं कर सकती। असल में नया भी पुराने से ही निकलता है वह उसके आधार पर ही खड़ा होता है। मुझे नये की परिकल्पना करते समय सातत्य अच्छा लगता है।

यहां से मैं अपने पहले उठाये गये सवाल पर लौटता हूँ कहानी में नयेपन का अर्थ क्या है? ये जानने के पहले हमें समझना होगा कि हमारे देश में तीनों काल यानी उत्तर आधुनिक, आधुनिक और सामंती एक साथ अस्तित्व में हैं, और हालांकि जनतांत्रिक ढांचा अपना लिया गया है लेकिन सामाजिक ढांचे से उसकी संगति ना होने के कारण बहुत सारी विद्रूपताएँ भी हमारे देश में उपस्थित हैं। कहानी

को नया सिर्फ इसलिये नहीं माना जा सकता कि उसे नये कथाकार लिख रहे हैं या उसमें भाषा की फोटोग्राफिक, उत्तर आधुनिक किस्म की चमक पैदा कर दी गई है या वीडियो टेक्नॉलॉजी के प्रभाव में उसे एपिसोडिक एवं चित्रात्मक बनाया गया है। उसे तभी नया समझा जायेगा जब वो हमारे समय तथा समाज को समझने में हमारी मददगार होगी और इसके लिये कुछ नयी वैचारिकता की ज़रूरत होगी। यह सब सिर्फ भाषा से नहीं बल्कि विचार से संभव होगा।

कविता और संगीत के संदर्भ में मैं यह बात पहले भी एक आलेख में कह चुका हूँ। इस अंक में नाटक के संदर्भ में बादल सरकार का एक अद्‌भुत आलेख है जो समाज और कला की ज़रूरतों और उसमें आये नयेपन की अवधारणा को नाटक की दृष्टि से स्पष्ट करता है। प्रोसीनियम थियेटर से आगे बढ़कर अंतरंग थियेटर के रंगमंचीय अनुभव और वहां से निकलकर नुक्कड़ नाटकों तक समाज से जुड़ाव ही कला में नवीनता पैदा करता है। वे यह भी कहते हैं कि हमारे यहां एक शहरी परम्परा है और एक लोक परम्परा है और उनके बीच संवाद कम से कम है। ये दोनों ही रंगमंच एक शताब्दी से भी ज्यादा समय से एक दूसरे के समानांतर मौजूद हैं और फिर भी इनमें कोई विशेष आदान-प्रदान नहीं हुआ। हमारे यहां बड़े शहरों का निर्माण सामान्य रूप से नहीं बल्कि औपनिवेशिक ज़रुरतों की पूर्ति के लिये हुआ था जिन्होंने आगे चलकर ग्रामीण क्षेत्रों का दोहन प्रारंभ कर दिया। शहरी बुद्धिजीवी अपने आपको लोक कलाओं और लोक परम्पराओं से ऊपर मानते हैं। दोनों परम्पराओं के बीच आदान-प्रदान के माध्यम से नाट्य कला का रूपान्तरण ही उसके नयेपन का परिचायक होगा। यहां हबीब तनवीर बरबस याद आ जाते हैं। इस निष्कर्ष के साथ कि कला में नये पन का एक अर्थ रूपांतरण भी है।

इस अंक में शिवराम के साथ पल्लव की एक विचारोत्तेजक बातचीत है। मणि कौल को याद कर रहे हैं उदयन बाजपेयी। प्रख्यात चित्रकार मक़बूल फिदा हुसेन तथा आलोचक कमला प्रसाद पर केंद्रित आलेख भी इस अंक में हैं।

मैत्रेयी पुष्पा एवं मनोज रूपड़ा को दिये गये वनमाली कथा सम्मान पर तथा इस बीच भोपाल में आयोजित नाट्य समारोहों पर विस्तृत रिपोर्ट भी इस अंक में जा रही हैं।

आशा है अंक आपको पसंद आयेगा। चिट्ठी ज़रूर लिखें।

● संतोष चौबे

रंगमंच की बदलती भाषा

बादल सरकार

21 अप्रैल, 1982 को मौलाना अबुल कलाम आज़ाद स्मृति व्याख्यान के अन्तर्गत दिए गए भाषण में बादल सरकार अपने व्यक्तिगत विकासक्रम को आम शहरी बुद्धिजीवियों के विकास के साथ जोड़ते हुए एक ऐसी यात्रा का वृत्तान्त सामने रखते हैं जिसके जरिए हम न केवल तीसरे रंगमंच के विकास से बल्कि बादल सरकार की पैनी राजनीतिक विश्लेषण क्षमता से भी परिचित होते हैं। भारतीय समाज, संस्कृति और शिक्षा के साथ-साथ रंगमंच में शहर-गाँव के बीच के विभाजन की जड़ों को वे भारत के औपनिवेशिक इतिहास में तलाशते हैं और कला में 'समानता' की जरूरत को चिन्हित करते हैं। अभिनेता और दर्शकों के बीच की दूरी को कम करने की उनकी कोशिशें तीसरे रंगमंच में सफल होती दिखती हैं। हालाँकि, बादल सरकार का तीसरा रंगमंच, पहले (लोक रंगमंच) और दूसरे (शहरी, आयातित रंगमंच) के जनोन्मुख पक्षों का स्पष्टतः गहरे रूप में कला और विचारधारा का संश्लेषित रंगमंच है। किसी प्रकार के समझौते या किसी राजनीतिक दल विशेष के पिछलग्गू बने और बगैर एक सुस्पष्ट राजनीतिक विचारधारा को आधार मानकर आम आदमी के पक्ष में आजीवन खड़े रहे बादल सरकार। उनका निधन एक बड़ा खालीपन है। श्रद्धांजलि।

रंगमंच की भाषा पर वक्तव्य देने से पहले मेरे सामने यही पहला प्रश्न उपस्थित होता है मैं कौन हूँ? यह केवल इकलौता प्रश्न नहीं, बल्कि इसके साथ प्रश्नों की एक श्रृंखला खड़ी हो जाती है- जैसे मैं कहाँ से आया हूँ? इस जटिल संसार में, एक सामाजिक परिवेश में मेरा क्या स्थान है? मेरा वर्तमान काल क्या है? मेरी भाषा क्या है? मेरा रंगमंच क्या है? मेरे रंगमंच की भाषा क्या है?

यह सब अहं भरा प्रतीत होता है, पर वास्तव में ऐसा नहीं है। ये सभी प्रश्न प्रासंगिक हैं, क्योंकि मैं एक काल एवं संदर्भ से जुड़ा हुआ हूँ। मैं स्वतंत्र या निरपेक्ष नहीं हूँ। मेरे विचार, मेरे कर्म, अपनी जीवन-शैली तक ही सीमित हैं। मेरे अनुभव, जीवन में किए गए चुनाव भले ही स्वैच्छिक हों या परिस्थितिवश हों पर वे मेरे परिवेश से प्रभावित हैं। रंगमंच की भाषा से मेरा तात्पर्य मेरे रंगमंच की भाषा एवं अपनी भाषा तक ही सीमित हैं। मैं 'मैं' के स्थान पर 'हम' का प्रयोग कर सकता था, क्योंकि मैं एक काल-विशेष में समाज के विशेष वर्ग का प्रतिनिधित्व करता हूँ एवं इस काल में मेरे जैसे बहुतेरे लोग हैं।

मैं, अपने आप को एक उदाहरण के रूप में प्रस्तुत करता हूँ। मेरे जैसा यह व्यक्ति एक आम शहरी भारतीय है जिसका जन्म एवं शिक्षा-दीक्षा कलकत्ता जैसी महानगरी में हुई है। यह शहर जीवन्त है, इसकी अपनी शक्ति और कमजोरियाँ हैं; और उन्हीं पर आधारित अपना एक दृष्टिकोण भी है। यह व्यक्ति मध्य वर्ग या उच्च-मध्य वर्ग में जनमा है। इसके पिताजी स्कूल के अध्यापक थे एवं पड़दादाजी की शायद थोड़ी-बहुत जमींदारी थी। यह व्यक्ति पढ़ा-लिखा है अर्थात् अंग्रेजी शिक्षण प्रणाली की उपज है। हालाँकि शिक्षा का माध्यम मूलतः देशी भाषा ही रही है। यह उस समय विदित होता है जब उसे किसी सभ्रान्त सभा में अंग्रेजी में बोलना पड़े।

इस व्यक्ति को कॉलेज की शिक्षा इसलिए मिली क्योंकि इसके पिताजी 21 वर्षीय वयस्क बेटे के कॉलेज की फीस देने में सक्षम थे। शिक्षा स्तर एक ऐसे देश में जहाँ 70 प्रतिशत निरक्षर व्यक्ति हों, ऊँचा है, लेकिन व्यक्ति जिन बौद्धिक ऊँचाइयों को छू सकता है, उनके मुकाबले काफी कम है। वह व्यक्ति किस 'काल' से संबंधित है? उसने अपनी शिक्षा ब्रिटिश शासन काल में पूरी की एवं स्वतंत्रता से कुछ पहले ही कमाने लगा।

रंगमंच की एक बनावटी दूसरी दुनिया भी हमारे सामने होती है- निष्क्रिय और खामोश, अंधेरे में अपने को छिपाये। इस फ्रेम के उस पार की गतिविधियाँ वास्तविक नहीं हैं, सच नहीं है बल्कि वास्तव का भ्रम मात्र है। जो लोग अभिनय कर रहे हैं वे ठीक हमारे जैसे ही आम लोग हैं, पर हमसे कितने भिन्न हैं, कितने कटे हुए हैं। वे इस प्रेक्षागृह में उस दरवाजे से दाखिल नहीं हुए हैं, जिससे होकर हम आए हैं।

वह अब 1982 ई. में जीवन्त है और शक्ति-सम्पन्न है। उसकी भाषा? भाषाई रूप से बंगाली है, पर सांस्कृतिक रूप से अंग्रेज़ है क्योंकि वह जिस वर्ग से आता है उसकी भाषा अंग्रेज़ी थी और आज भी है।

यह एक मध्यम वर्गीय, शिक्षित गहरा बंगाली है। इस व्यक्ति ने कुछ चुनाव किये एवं यह उन चुनावों की उपज है। हालाँकि सभी चुनाव स्वतंत्र नहीं थे, वरन् ज्यादातर परिस्थितिवश किये गए थे लेकिन इन सीमाओं के बावजूद इस व्यक्ति का अपना एक स्वतंत्र व्यक्तित्व भी है। जीवन के अनेक चुनावों में, मान लीजिए उसने एक चुनाव रंगमंच का किया है। शुरू में यह एक मन बहलाने के लिए, फुरसत के क्षणों में किया गया काम था, लेकिन धीरे-धीरे इसका जीवन में महत्व बढ़ने लगा। छोटे-मोटे शौकिया नाटकों में पहले निर्देशन और बाद में नाट्य-लेखन तक पहुँचा, क्योंकि यह व्यक्ति अपने नाटकों का मंचन स्वयं करना चाहता था।

एक शहरी होने के नाते शुरू में उसका झुकाव शहरी रंगमंच की तरफ होना लाजमी था। 50 के दशक में कलकत्ता के रंगमंच की भाषा को चुनना, उसके लिए स्वाभाविक ही था, क्योंकि थोड़ा बहुत भारत के ग्रामीण रंगमंच के बारे में जानकारी होने के बावजूद परिपक्व ज्ञान न होने के कारण उस दिशा में उसके ज्यादा काम करने की गुंजाइश नहीं थी।

वास्तव में जब हम 'थिएटर' शब्द का प्रयोग करते हैं, जिसे हमने प्रायः अपनी सभी भाषाओं में अपना लिया है; इस शब्द से हम शहरी रंगमंच को ही समझते हैं। एक बड़ा प्रेक्षागृह, दर्शकों के लिए कतार में लगी कुर्सियाँ, जो सब एक ही दिशा में देखने के उद्देश्य से लगाए गए हैं। अगर हम दर्शक हैं तो हमारे सामने एक विशाल चित्र का 'फ्रेम' जैसा होता है जहाँ 'चित्र' एक भारी पर्दे के पीछे छिपा-सा लगता है। जब थिएटर का कार्य व्यापार शुरू होता है तो हम अपने को घुप्प अंधेरे में पाते हैं, और ऐसे समय पर्दा हटा लिया जाता है। हमारे सामने यानी चित्र के फ्रेम के पीछे वास्तव में एक और कमरा उभरता है जो हमारे धरातल से ऊँचा है। सभी प्रकाश इसी कमरे पर केन्द्रित है, सभी गतिविधियाँ इसी कमरे में हैं, सभी संवाद और शब्द इसी से बँधे हुए हैं। रंगमंच की एक बनावटी दूसरी दुनिया भी हमारे सामने होती है- निष्क्रिय और खामोश, अंधेरे में अपने को छिपाये। इस फ्रेम के उस पार की गतिविधियाँ वास्तविक नहीं हैं- सच नहीं है बल्कि वास्तव का भ्रम मात्र है। जो लोग अभिनय कर रहे हैं वे ठीक हमारे जैसे ही आम लोग हैं, पर हमसे कितने भिन्न हैं, कितने कटे हुए हैं। वे इस प्रेक्षागृह में उस दरवाजे से दाखिल नहीं हुए हैं, जिससे होकर हम आए हैं। इस प्रस्तुति के बाद वे किसी और दरवाजे से प्रेक्षागृह के बाहर जाएंगे। यहाँ तक कि हॉल में हमारी उपस्थिति से भी वे बेख़बर हैं, या ऐसा महज दिखावे के लिए कर रहे हैं। इसका मतलब तो यह हुआ कि वे हमारी उपेक्षा कर रहे हैं। मानो उनके लिए हमारी अहमियत है ही नहीं। पर हम जानते हैं कि हम उपेक्षित नहीं हैं, वे जो कुछ भी कर रहे हैं वह सब हमारे लिए कर रहे हैं और हमारी उपस्थिति के बगैर उनका होना अर्थहीन हो जाएगा।

जब वह अपने लिए रंगमंच चुनता है, वह ऐसा ही मंच चुनता है। Proscenium stage, यानी ऐसा प्रेक्षागृह जहाँ कुर्सियों की कतार हों, स्पॉटलाइट, पोशाक, ग्रीन-रूम नाटक का प्रचार, टिकट बिक्री आदि। ऐसा वह दो दशकों तक बराबर करता रहता। बिना किसी मानसिक बदलाव के।

लेकिन परिवर्तन परोक्ष रूप से लगातार हो रहा था। यह परिवर्तन एक जादू की तरह है। व्यक्ति का जगत में अपना एक 'काल' होता है, लेकिन जगत काल के साथ परिवर्तनशील है और व्यक्ति अनजाने ही इस परिवर्तन का एक हिस्सा बनता जाता है। साथ ही वह भी इस परिवर्तन की प्रक्रिया को प्रभावित करता है। यही उसकी शक्ति है। वह एक समाज के एक काल की उपज है लेकिन वह समाज को बदल भी सकता है। उसके एवं उस जैसे अनेक लोगों के सामूहिक प्रयासों से संसार में परिवर्तन होता है- अच्छे के लिए या बुरे के लिए, जो भी हो।

अतः शुरू में शहरी रंगमंच को यथावत स्वीकार करने के बावजूद उसके मन में कई प्रश्न उभरते रहते हैं- जैसे जब वह स्वयं नाटक की रचना करता है तो प्रश्न उठता है, नाटक से व्यक्ति कितना अभिव्यक्त कर सकता है? क्या वह सभी कुछ जो वह सोचता है, या महसूस करता है या इसकी अपनी सीमाएं हैं? यदि हाँ, तो वे सीमाएं क्या हैं? नाटक साहित्य का कितना विशिष्ट अंग है, नाटक की भाषा एवं रंगमंच की भाषा में क्या अन्तर है? आखिर रंगमंच क्या है? रंगमंच से कैसे व्यक्ति स्वयं को अभिव्यक्त कर सकता है? रंगमंच कितना मनोरंजन, कितना सौन्दर्य और कितना बड़ा संवेशवाहक का जरिया हो सकता है? रंगमंच और अन्य कलाओं में क्या समानताएँ एवं असमानताएँ हैं? इसकी क्या विशिष्टताएं हैं? भारतीय परिवेश का रंगमंच कहाँ है?

प्रश्न तो और भी अनेक जुड़ते रहेंगे, पर जरूरी नहीं क्योंकि कभी अन्तिम उत्तर नहीं मिल सकता है। यह एक प्रक्रिया मात्र है। प्रश्न करना, उनका हल ढूँढ़ना परिवर्तन की एक प्रक्रिया है एवं यह परिवर्तन ही मूल रूप से प्रासंगिक है। परिवर्तन आता है जागरूकता से, न केवल रंगमंच के प्रति जागरूकता वरन समाज, समय एवं जीवन के प्रति जागरूकता से परिवर्तन आता है। यह प्रक्रिया काफी जटिल लगती है, लेकिन तभी तक जब तक विचार मन तक सीमित रहता है। पर जैसे-जैसे उसे अमली जामा पहानाया जाता है, सारी दुविधाएँ दूर होकर मूर्त रूप में सामने उभरने लगती हैं।

परिवर्तन आता है जागरूकता से, न केवल रंगमंच के प्रति जागरूकता वरन समाज, समय एवं जीवन के प्रति जागरूकता से परिवर्तन आता है। यह प्रक्रिया काफी जटिल लगती है, लेकिन तभी तक जब तक विचार मन तक सीमित रहता है। पर जैसे-जैसे उसे अमली जामा पहानाया जाता है, सारी दुविधाएँ दूर होकर मूर्त रूप में सामने उभरने लगती हैं।

खोज शुरू होती है उस चीज़ से जो इस समय हाथ में हो, और यह है समकालीन शहरी रंगमंच। लेखक एक नाटक लिखता है- यहीं से शुरुआत होती है। इस नाटक की एक भाषा है, जैसे कि कविता एवं साहित्य की अन्य विधाओं की एक भाषा होती है, और उसको वही लोग पढ़ सकते हैं जिनको उस भाषा का ज्ञान होता है। दूसरे चरण में एक निर्देशक का आगमन होता है जो पटकथा के साथ नाटक को एक देखे-सुने जाने वाले (Audio-Visual) माध्यम के रूप में अभिनेताओं के माध्यम से रूपान्तरित करता है जिसमें कई अंक हो सकते हैं और उसका मंचन एक रंगमंच पर होता है। अब यह एकान्त में पढ़ने वाली साहित्यिक विधा से हटकर, एक दर्शक समूह द्वारा देखने लायक विधा में परिवर्तित हो जाता है। इस तरह नाटक-पटकथा एवं मंचन रंगमंच के तीन अंग हैं। पटकथा लेखक को नाट्य-मंचन का आरम्भ से ही ध्यान रखना पड़ता है। उसको कला की विधाओं तथा साहित्य एवं रंगमंच में एक सामंजस्य स्थापित करना पड़ता है क्योंकि रंगमंच के लिए उसको ऐसी भाषा का प्रयोग करना पड़ता है जो नाटक के पूर्ण भाव को दृश्य, श्रव्य माध्यम से एक सीमित समय में जो कि दर्शकों कलाकारों दोनों के लिए सुविधाजनक हो, प्रस्तुत कर सके।

पटकथा लेखक एक ऐसी भाषा का उपयोग करता है जिसके माध्यम से नाटक के विभिन्न कलाकार के विचारों को जीवंत रूप में दर्शकों के सामने प्रस्तुत कर सके। ये घटनाएँ वास्तविक जीवन के नजदीक हों, लेकिन उनमें अनावश्यक घटनाओं का समावेश न हो, जिनका नाटक के संदेश से सम्बन्ध न हो। अतः इसमें कुछ घण्टे, दिन, महीने यहाँ तक कि सालों का भी अन्तराल हो सकता है जो कि सामान्यतः अंधकार करके या दृश्य परिवर्तन करके इंगित किया जाता है। इस तरह के रंगमंच को वास्तविक रंगमंच कहते हैं, क्योंकि इसमें दर्शकों के लिए एक ऐसा वातावरण तैयार किया जाता है जहाँ कलाकार घटनाओं को इस तरह से प्रस्तुत करते हैं कि वे दर्शकों के वास्तविक जीवन के काफी नजदीक महसूस होती हैं।

इस तरह से रंगमंच की भाषा, नाटक की भाषा एवं आम बोलचाल की भाषा में कोई विशेष अन्तर नहीं होता है। अतः चरित्र वास्तविक जीवन के काफी नज़दीक लगता है जब दर्शक कलाकार को चरित्र-चित्रण करते देखता है। प्रोसेनियम मंच इस तरह के रंगमंच के लिए काफी सुविधाजनक है क्योंकि कलाकारों एवं दर्शकों के बीच की दूरी इस तरह वास्तविकता के भ्रम को तैयार करने में सहायक होती है, इसीलिए जादूगर भी इसी तरह का मंच चाहते हैं।

कई सवाल यहाँ खड़े हो जाते हैं। इस भ्रम को किस हद तक पैदा किया जा सकता है? क्या वास्तव में दर्शक भूल जाता है कि आखिर यह मंच है और इस पर सभी लोग अभिनेता हैं। कितना भी भ्रमजाल क्यों न रचा जाये, वास्तव में इसका असर दर्शक की कल्पनाशीलता के अनुसार ही होता है, न कि उसके आदेशानुसार जो कुछ मंच पर वह देखता-सुनता है। तब क्या यह मान लिया जाय कि दर्शक भ्रमित होने के उद्देश्य से ही नाटक देखने आता है? और क्या वह थिएटर के इस अलिखित नियम को मानता है?

और अब, नाटक को एक नई विधा सिनेमा से प्रतियोगिता करनी पड़ रही है। क्या रंगमंच सिनेमा की तरह वास्तविकता प्रस्तुत कर सकता है? कभी नहीं। क्योंकि सिनेमा में जिस तरह आउट-डोर शूटिंग एवं भव्य इनडोर सेट का इस्तेमाल होता है वह रंगमंच पर मुमकिन नहीं है। अतः बेहतर यही है कि कुछ प्रतीकों का इस्तेमाल कर, बाकी दर्शकों की कल्पना-शक्ति पर छोड़ दिया जाए और अब ऐसा ही ज्यादातर किया जा रहा है।

किन्तु, एक बार अगर इस वास्तविकता का भ्रम पैदा करने की सीमा से निकला जाए तो, अन्य सीमाओं की बन्दिशें भी समाप्त हो जाएँगी। फिर कहानी, चरित्र, वास्तविकता आदि गौण हो जाएंगे। पटकथा लेखक इन सभी से ऊपर उठकर एक समस्या विशेष पर ध्यान केन्द्रित कर सकता है। जैसे शहरी मध्यवर्ग पर ध्यान केन्द्रित किया जा सकता है। यह वर्ग समाज का एक अल्पसंख्यक वर्ग हो सकता है, फिर भी एक अहम वर्ग है। साथ ही इस वर्ग की मूलभूत समस्याओं में ज्यादा दिलचस्पी रख सकता है। अतः बजाय इसके कि

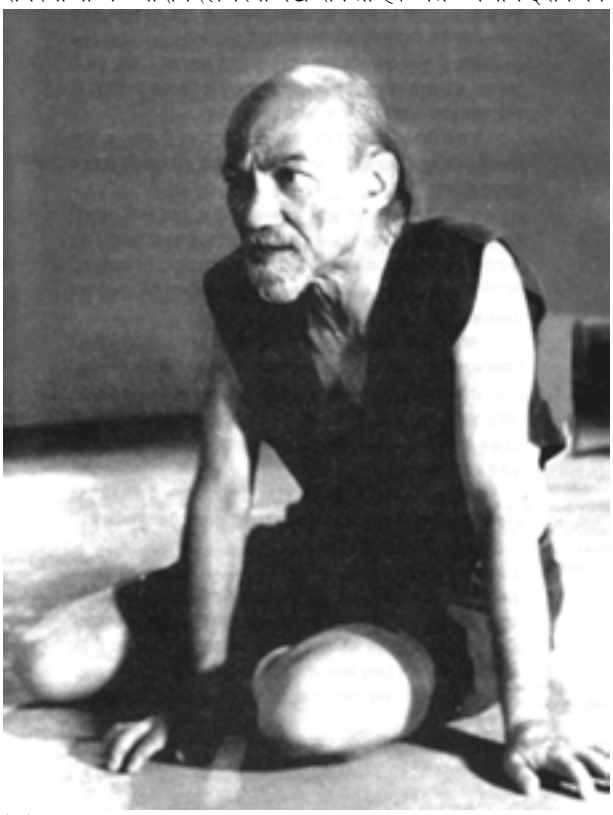

रंगमंच पर बादल सरकार

किसी पात्र विशेष की समस्या पर ध्यान केन्द्रित करे वह समाज के तीन प्रतिनिधि पात्र जो किसी भी नाम जैसे अमल, विमल, कमल, निर्मल या कोई एक पात्र जो इनसे भिन्न हो जैसे इन्द्रजीत पर ध्यान केन्द्रित कर इन प्रतिनिधि पात्रों के इर्द-गिर्द एक समस्या प्रधान घटना, जैसे परीक्षा, विवाह, साक्षात्कार कैरियर आदि का ताना-बाना बुन सकता है और फिर रंगमंच की एक नई भाषा की खोज शुरू होती है। अब एक मूल प्रश्न 'रंगमंच आखिर है क्या?''

इन प्रश्नों का उत्तर तलाशते हुए उसको आभास होता है एक सत्य का, जिससे वह सदा से जानता रहा है पर उसका सही मर्म नहीं समझ सका था। यह सत्य है कि रंगमंच एक जीवन्त प्रस्तुति है एवं इसके लिए दर्शक एवं कलाकारों का एक निश्चित समय-स्थान पर एक साथ उपस्थित होना आवश्यक है। प्रस्तुति वर्तमान की होती है, भले ही कहानी कभी की हो।

> क्या वास्तव में दर्शक भूल जाता है कि आख़िर यह मंच है और इस पर सभी लोग अभिनेता हैं। कितना भी भ्रमजाल क्यों न रचा जाये, वास्तव में इसका असर दर्शक की कल्पनाशीलता के अनुसार ही होता है, न कि उसके आदेशानुसार जो कुछ मंच पर वह देखता-सुनता है।

इस नए एहसास के साथ ही दर्शकों का महत्व बढ़ जाता है। क्यों उन्हें अंधकार में 'हम' और 'वह' के अन्तर के साथ रखा जाए? क्यों नहीं दर्शक और पात्रों के बीच की दूरी घटायी जाए? वे एक सम-धरातल पर रहें, एक-दूसरे की प्रतिक्रिया जानें-समझें। दर्शक भी पूरी रोशनी में एक-दूसरे की प्रतिक्रिया समझ सके। यह रंगमंच को एक त्रि-आयामी विधा बना देगा। ऐसा केवल रंगमंच से ही सम्भव है, क्योंकि यह एक जीवन्त प्रस्तुति है जो कि सिनेमा में कभी नहीं हो सकता। यह मानवीय प्रस्तुति एवं विचारों का आदान-प्रदान रंगमंच की एक ऐसी विशेषता है जो सिनेमा कभी नहीं प्राप्त कर सकता है।

कहते हैं कि रंगमंच का स्रोत रस्मों में है। प्रथा एक ऐसा सामाजिक कर्म है जिससे समस्त समाज जुड़ा होता है। यहाँ कोई लिखित नाटक नहीं होता वरन् परम्पराओं का सभी को ज्ञान होता है। सभी उसमें भागीदार होते हैं। हाँ, कुछ लोगों का जैसा पंडित-पुरोहित, नर्तक, बुजुर्ग लोगों का विशेष स्थान होता है। इन रस्मों-प्रथाओं का विशेष प्रयोजन होता है जैसे विवाह, मुंडन, प्राकृतिक प्रकोपों से बचाव, वर्षा के लिए प्रार्थना आदि। इन प्रथाओं के साथ मनोरंजन भी जुड़ा रहता है। मौज-मस्ती में पूरा समाज सम्मिलित होता है।

रंगमंच भी परिणाम केंद्रित (Result Oriented) हो सकता है क्योंकि इसका एक उद्देश्य है। यह दर्शकों के विचार में परिवर्तन लाने की भूमिका निभा सकता है। इस सन्दर्भ में रंगमंच दर्शकों का मनोरंजन करने के साथ ही उस पर एक वैचारिक क्रान्ति के लिए प्रभाव भी छोड़ जाता है। लेकिन इस प्रकार की भूमिका निभाने के लिए क्या दर्शकों की ज्यादा भागीदारी की जरूरत नहीं है? क्या उन्हें केवल मूक दर्शक बनाना उचित है? क्या ऐसा नहीं हो सकता कि उनकी जीवन सम्बन्धी प्रतिक्रियाएँ उपलब्ध कर उन्हें और प्रोत्साहित किया जाए? रंगमंच में ऐसी प्रतिक्रियाएँ चार तरह से हो सकती हैं। कलाकारों से दर्शक, कलाकारों-कलाकारों के बीच, दर्शकों से कलाकारों तक और दर्शकों-दर्शकों के बीच। इनमें प्रथम दो से हम भिन्न हैं। कलाकार दर्शकों को ध्यान में रखकर ही भूमिका निभाते हैं। कलाकारों का एक दूसरे के साथ संवाद होता है क्योंकि नाटक में उनके चरित्र एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं। लेकिन जहाँ दूसरी दो तरह की प्रतिक्रियाओं का प्रश्न उठता है, दर्शक-दर्शक, एवं दर्शक से कलाकार के बीच संवाद, हमारे मन में एक अराजकता की स्थिति हावी हो जाती है। हम यह मान कर चलते हैं कि संवाद केवल भाषा से या बोल कर ही होता है। यह वास्तविकता से परे है। संवाद लोगों के मुख-मुद्रा, शारीरिक हाव-भाव आदि से भी होता है। प्रकाश में कलाकारों तक दर्शकों की यह प्रतिक्रिया ज्यादा सुविधा से पहुँचती है। दर्शकों को भी स्वैच्छिक भागीदारी का अवसर मिलता है।

यह खोज केवल एक मानसिक स्तर पर नहीं सीमित रहती है। रंगमंच का एक हिस्सा होने के कारण वह अपने विचारों एवं खोजों को प्रायोजिक स्तर पर शहरी रंगमंच पर उतारता है। यह परिवर्तन उसके नाटकों की भाषा जिन्हें वहलिखता है, निर्देशित करता है, अभिनय करता है- उनमें झलकता है। मसलन, जब 'वह' यह समझ लेता है कि नाटक एक जीवन्त प्रस्तुति है- वह स्वाभाविक रूप से 'मनुष्य पर ज्यादा निर्भर होना शुरू करता है- जो अभिनेता भी और दर्शक भी है। इसी से उसे इस बात का भी गहरा अहसास होता है कि रंगमंच की कला का मूलभूत उपकरण, 'मनुष्य' का शरीर ही है। प्रकृतिवादी रंगमंच से बाहर 'उसके' इन अहसासों को एक नया आधार मिला।

परम्परागत शहरी रंगमंच के वे सभी तामझाम, जैसे सेट्स, प्रॉप्स, स्पाट लाइट, वेशभूषा, प्रसाधन आदि; क्या वाकई में रंगमंच के लिए अपरिहार्य हैं? हाँ, ये सहायक तो हो सकते हैं और शायद किसी खास किस्म के नाटकों के लिए जरूरी भी हो सकते हैं, पर क्या इन्हें या इनमें से किसी एक तत्व को हम रंगमंच की कला के लिए जरूरी उपकरण के रूप में मान सकते हैं? दूसरे शब्दों में, क्यों इनकी या इनमें से किसी एक की अनुपस्थिति में रंगमंच, रंगमंच नहीं रहेगा? और एक जादू की तरह परिवर्तन वास्तव में काम करने लगता है। अन्ततः वह प्रोसेनियम रंगमंच से बाहर आ जाता है। यह एक कठिन क़दम है क्योंकि वह वर्षों से प्रोसेनियम मंच से जुड़ा हुआ है पर एक बार उसके क़दम इस ओर बढ़ते हैं तो उसके रंगमंच की भाषा तेजी से बदलने लगती है। विचार परिवर्तन में एक ठहराव आने लगता है। अन्ततः वह इस नए रंगमंच को सत्तर के दशक में एक मूर्त्त रूप प्रदान करता है।

यह एक बड़ा-सा कमरा है, करीब 1000 वर्गफुट या उससे कम आयतन का कमरा है। दर्शकों के बैठने के लिए बैंच बिना पीठ और हत्थों के इस्तेमाल की जाती है। यह तीन तरह की ऊँचाई की है। ऐसा इसलिए किया जाता है ताकि सभी दर्शक सुविधापूर्वक देख सके। हॉल में कहीं भी तीन से ज्यादा कतारें नहीं रखी जाती हैं। हर बैंच पर दो लोग बैठ सकते हैं। ऐसा करने से दर्शकों के बीच आपस में वार्तालाप सुविधापूर्वक हो सकता है। अलग-अलग नाटकों के आवश्यकतानुसार बैठने के तरीकों में फेर-बदल किया जा सकता है।

कोई अलग स्टेज नहीं होता है। कमरे के फ्लोर, जमीन पर ही प्रदर्शन होता है ताकि दर्शक एवं कलाकार एक ही वातावरण में अपने को महसूस करे। रोशनी के लिए 100 वाट या उससे कम के अनेक बल्बों का प्रयोग होता है ताकि जब जिस स्थान को रोशन करने की आवश्यकता हो उसको रोशन किया जा सके।

यह एक अन्तरंग रंगमंच है। यहाँ कलाकार दर्शकों को देख सकते हैं, छू सकते हैं। यहाँ तक कि उनके कानों में भी गुनगुना सकते हैं। नाटक उनके सामने, दाएँ-बाएँ-पीछे कहीं भी हो सकता है। ऐसा जरूरी भी तो नहीं है कि हर दर्शक नाटक के हर अंग को देखे ही, भले ही वह दो सौ फीट की दूरी से क्यों न देखे। इस रंगमंच की भाषा ऐसी होनी चाहिए कि दर्शक अपने को रंगमंच का एक अंग महसूस करे। प्रयास यह है कि व्यक्ति एक-दूसरे की प्रतिक्रिया यहाँ और अभी ले। न कि दर्शक से दूर मंच पर कुछ हो रहा है, उसे यूँ देखे और सुने या कलाकार आपस में इस तरह नाटक प्रस्तुत करे जैसे हॉल में उनके सिवाय कोई है ही नहीं।

हम यह मान कर चलते हैं कि संवाद केवल भाषा से या बोल कर ही होता है। यह वास्तविकता से परे है। संवाद लोगों के मुख-मुद्रा, शारीरिक हाव-भाव आदि से भी होता है। प्रकाश में कलाकारों तक दर्शकों की यह प्रतिक्रिया ज्यादा सुविधा से पहुँचती है।

किसी भी कला की पहचान उससे होने वाले अनुभव से की जाती है। वह कहाँ तक हमारे मानस को उद्वेलित कर पाता है। एक उपन्यास केवल एक कहानी नहीं कहता है, वरन् एक वातावरण बुनता है जो हमारी भावनाओं को छू जाती है। इसी तरह एक अच्छी चित्रकला केवल एक घटना नहीं दर्शाती है, बल्कि दर्शक की भावनाओं को छू जाती है। क्या यही मापदंड नाटक की भाषा पर भी लागू नहीं होता है? 'मनोभावों के जरिये संचार' या 'रंगमंच-अनुभव' का नए रंगमंच से क्या तात्पर्य है?

'नए रंगमंच' का दर्शक वास्तविकता का 'भ्रम' नहीं, वास्तविकता ही चाहता है। वह कलाकार निकटता चाहता है। इस नई आकांक्षा के लिए बैठने के तरीके या मंच का बदलाव काफी नहीं है। जरूरत है, दर्शक एवं कलाकारों के बीच एक नए रिश्ते तलाशने की जो व्यक्तियों के बीच मानवीय धरातल पर टिका हुआ हो। इस तरह रंगमंच को एक नई भाषा की आवश्यकता हुई। पारंपरिक रंगमंच में कलाकार नाटक के चरित्र के आधार पर अपनी पहचान बदलते हैं। इसके लिए चरित्र के अनुसार उनका पहनावा, श्रृंगार, हाव-भाव आदि की नकल करने की कोशिश की जाती है और इसी को सामान्यतः अभिनय कहा जाता है। लेकिन अब अभिनेता यह नकली नकाब उतारकर एक मानवीय स्व-व्यक्तित्व के रूप में दूसरे व्यक्ति दर्शक के सामने अपने को प्रस्तुत करता है।

हमारे आज के सभ्य समाज में, स्वयं को अपने वास्तविक रूप में पेश करना सबसे कठिन कार्य है। बचपन से ही स्वयं को एक मुखौटे के पीछे छिपाने की तालीम मिलती रही है। 'ऐसा करो', 'ऐसा मत करो', 'इस तरह शिष्टता से व्यवहार करो' बचपन में उसे ऐसा सिखाया जाता है और वयस्क होने पर वह स्वयं को इन परिधियों में बाँध लेता है। उसकी सारी भाव-भंगिमा, वार्तालाप करने का ढंग, उठना-बैठना उसको इस प्रतियोगिता भरे समाज में स्वयं को बचाने के एक प्रयास भर बनकर रह जाता है। उसका स्वयं का 'मैं' इस पूरे प्रयास में कहीं खो जाता है। नए रंगमंच में कलाकार इस अप्राकृतिक 'मुखौटे' को उतारकर व्यक्ति को उसके वास्तविक स्वरूप से साक्षात्कार कराने की कोशिश करता है।

लेकिन नया रंगमंच कलाकार से एकदम भिन्न भाषा की अपेक्षा रखता है। कलाकार को स्वयं का मुखौटा उतारकर वास्तविक स्व को अनावृत्त करना पड़ता है। इस सभ्य समाज में शायद रंगमंच ही वह सामाजिक स्थल है जहाँ वह ऐसा कर सकता है और कलाकार इसका लाभ उठा सकता है। इसमें जोखिम भी बहुत है, क्योंकि मुखौटा उतारने का साहस आ सके। और ऐसा होने पर रंगमंच एक वास्तविक मानवीय कृति हो जाता है, न कि मुखौटों के पीछे छिपे मानव, या कवच से स्वयं को छुपाये हुए लोग वरन् एक वास्तविक मानव का मानव से मिलन होता है।

इस पूरी प्रक्रिया में बौद्धिकता के महत्व को कम करने की कोशिश कहीं नहीं की गई है। बुद्धि से ज्ञान होता है और ज्ञान अपने आप में बहुत ज़रूरी है। ज्ञान भावना के बिना सिर्फ पंडिताई सिखाता है और भावना ज्ञान के बिना व्यक्ति को अकेला कर देती है। ज्ञान और भावना के समन्वय से एक ऐसी चेतना का जागरण होता है जो मनुष्य को बेहतर दुनिया बनाने के लिए सही क़दम उठाने की प्रेरणा प्रदान करे। हम सभी यह जानते हैं कि रोज लाखों लोग भुखमरी का शिकार हो रहे हैं। हम यह भी जानते हैं कि जेल में लोगों पर अमानवीय अत्याचार होते हैं। सभी को मालूम है कि दुनिया एक आणविक बारूद के ढेर पर बैठी है और क्षण भर में सब समाप्त हो सकता है- लेकिन जब तक इस ज्ञान का सही आशय हम महसूस नहीं करेंगे, सही दिशा में कोई क़दम बढ़ाने की प्रेरणा भी नहीं मिलेगी।

उस व्यक्ति की चेतना, जिसके बारे में हम अब तक बातचीत कर रहे, पर जरा प्रकाश डालने की कोशिश की जाये। उसे अब यह अहसास होने लगा है कि रंगमंच की इस बदली हुई भाषा ने उसे एक ऐसे माध्यम या जरिया प्रदान किया है जिसके चलते एक 'मनुष्य' का दूसरे मनुष्य से, एक हृदय का दूसरे हृदय के बीच भावनाओं का सीधा संप्रेषण सम्भव है। यहाँ 'वह' इस बात को नकारता नहीं है कि ऐसा संप्रेषण प्रोसेनियम रंगमंच भी हुआ है। पर उसका अपना अनुभव एक अभिनेता और दर्शक की हैसियत से उसे नहीं बताता है कि ऐसे संप्रेषण को घटित करना बेहद कठिन काम है। प्रोसेनियम रंगमंच में महानतम अभिनेताओं द्वारा प्रस्तुत किसी महान नाटक में ही केवल ऐसा भावात्मक प्रभाव पैदा किया जा सकता है। नया रंगमंच उसे एक ऐसी आज़ादी का अहसास कराता है जिसे उसने पहले कभी अनुभव नहीं किया था।

उसका एक और महत्वपूर्ण अहसास है। महँगे मंच, सभागार एवं उनसे जुड़ी महँगी वेशभूषा, रोशनी, सजावट आदि अनावश्यक है। मानवीय सम्बन्धों पर निर्भरता बढ़ाने से रंगमंच की अपनी लागत काफी कम हो जाती है। एक ऐसा समाज जिसमें सभी वस्तुएं खरीदी एवं बेची जाती हैं, कला भी एक क्रय-विक्रय की वस्तु होकर रह गई है। और अब तक वह इन शर्तों को मानने के लिए बाध्य था। लेकिन अब एक स्वतंत्र रंगमंच की संभावना उजागर हुई है। इस संभावना ने फिर से यह प्रश्न उपस्थित कर दिया कि भारतीय संदर्भ में रंगमंच क्या है? अतः परिवर्तन की इस प्रक्रिया को एक और संदर्भ में तलाशते हैं।

आरम्भ से ही यह एक अहसास रहा है कि रंगमंच का जो स्वरूप चुना गया है यह अकेला भारतीय रंगमंच का प्रतिनिधि नहीं है और न ही यह एक सबसे आम या लोकप्रिय रंगमंच है। इस रंगमंच का उद्‌भव ही भारत में नहीं हुआ है। रंगमंच के अनेक प्रकार एक व्यापार शीर्षक 'लोकमंच' या 'पारंपरिक रंगमंच' के शीर्षक से जाने जाते हैं। इनका अलग-अलग प्रान्तों में विभिन्न नाम और स्वरूप हैं। जैसे बंगाल में 'जात्रा', महाराष्ट्र में 'तमाशा', उत्तर प्रदेश में 'नौटंकी', गुजरात में 'भवाई', केरल में 'कथकली', कर्णाटक में 'यक्षगान' आदि। अतः भारत में दो तरह के रंगमंच हैं। एक है, स्वदेशी जो कि मूल रूप में ग्रामीण क्षेत्रों में विद्यमान है और दूसरा, पश्चिमी देशों से आयातित है, खासतौर पर ब्रिटेन से शताब्दी पूर्व- और हम इसके भारतीयकरण को स्वीकार कर भी लें तो भी यह 'लोकमंच' से काफी भिन्न एवं शहरी क्षेत्रों तक ही सीमित है। ये दोनों ही रंगमंच एक शताब्दी से भी ज्यादा समय से एक-दूसरे के समानान्तर मौजूद हैं फिर भी इनमें कोई विशेष आदान-प्रदान नहीं हुआ है। इस स्थिति पर कोई आश्चर्य नहीं होना चाहिए।

हमारे देश के सामाजिक-आर्थिक विकास का एक बहुत ही दुर्भाग्यपूर्ण पहलू है शहरी एवं ग्रामीण जीवन की विषमताएँ हैं। ये विषमताएँ केवल आर्थिक स्तर, सेवाओं की उपलब्धियों, सामाजिक विकास आदि तक सीमित नहीं हैं। वरन उनमें मूलभूत अन्तर है। इसका मूल कारण ऐतिहासिक रूप से देश का लम्बे समय तक उपनिवेश बनकर रहना है। अतः शहरी विकास में औपनिवेशिक विशेषताएं आ गई हैं। कुछ शहरों जैसे कोलकाता, मुंबई, चेन्नई, नई दिल्ली का जन्म सामान्य आर्थिक विकास के कारण नहीं हुआ था, जैसा कि पश्चिम के स्वतंत्र देशों में हुआ है। वरन इनकी स्थापना विदेशी शक्तियों के औपनिवेशिक हितों की रक्षा के लिए की गई थी। ये शहर ग्रामीण क्षेत्रों के शोषण को बढ़ावा देते थे। उनके आर्थिक सामाजिक विकास में उनका कोई सहयोग नहीं होता था। शोषण के पहले चरण में भारतीय ग्रामीण उद्योग के उत्पाद 'ईस्ट इंडिया कम्पनी' बेहद नाजायज कीमतों पर खरीद लेती थी और इस खरीद का भुगतान भी भारतीय जनता से वसूले गए कर की रकम से किया जाता था। कोलकाता, मुंबई, चेन्नई शहरों की स्थापना इन उत्पादों के शहरों में संग्रह करके उनके यूरोपीय देशों में निर्यात करने के लिए की गई थी। इस तरह के शोषण से जमा पूँजी का उपयोग ब्रिटेन के औद्योगिक क्रान्ति को साकार करने के लिए किया गया। अब ब्रिटिश साम्राज्य का हित भारत में बनी वस्तुओं के आयात के बजाय अपने औद्योगिक

उत्पादों को भारत में विक्रय करने में ज्यादा था, अतः भारतीय ग्रामीण उद्योग जो ब्रिटिश उद्योग के प्रतिद्वन्द्वी थे उनका योजनाबद्ध तरीके से संहार किया गया।

फिर दूसरे चरण में भारत को एक अविकसित कृषि प्रधान देश बनाया गया जो कि ब्रिटिश उद्योगों का एक बहुत बड़ा बाजार बन गया एवं दूसरी ओर ब्रिटिश उद्योगों के लिए एक कच्चा माल का स्रोत बन गया। जमींदारी प्रथा इस उद्देश्य की पूर्ति का एक बहुत प्रभावकारी उपकरण बन गई। शहर और बन्दरगाह इस विदेशी आर्थिक शोषण के प्रमुख केन्द्र बन गए और यहीं से शहरी-ग्रामीण आर्थिक विकास का अन्तर बढ़ने लगा। शहरों का विकास ग्रामवासियों की उपेक्षा करके होने लगा।

इस द्विविभाजन का प्रभाव सांस्कृतिक क्षेत्र में भी नज़र आता है। ब्रिटिश हितों के लिए ही आधुनिक शिक्षा प्रणाली अंग्रेजी में प्रारंभ की गई और स्वाभाविक रूप से इसका लाभ शहरों को ही मिला। अंग्रेजी शिक्षा आरम्भ में जमींदार परिवार, बड़े भूस्वामियों, व्यापारियों आदि के परिवारों तक ही सीमित रही जिन्होंने शोषण प्रक्रिया का हिस्सा बन कर काफी धन-संग्रह कर लिया था। फलस्वरूप शहरी संस्कृति ग्रामीण संस्कृति से पूरी तरह कट चुकी थी। लेकिन ग्रामीण संस्कृति परम्परागत तरीके से पनपती रही एवं जीवन्त रही। अतः इस क्षेत्र में भी शहरी एवं ग्रामीण जीवन में अन्तर की खाई बढ़ती रही।

इसलिए इसमें कोई आश्चर्य नहीं कि भारत में शहरी एवं ग्रामीण रंगमंच बहुत ही भिन्न है। भारत का शहरी रंगमंच स्थानीय शहरी विकास पर आधारित होने की बजाय, पूर्ण रूप से ब्रिटेन से आयातित था। उसमें अभिव्यक्त होने वाले विचार भी पश्चिमी सभ्यता से प्रभावित थे। दूसरी तरफ ग्रामीण लोकमंच ने अपनी स्थानीय परम्पराएं अपने रूप और विचारों में संजोये रखीं।

19वीं सदी के सांस्कृतिक नवजागरण के दौरान कई विचार पश्चिमी जगत से प्रभावित थे। यह अंग्रेजी शिक्षा का प्रभाव था। ये विचार मध्ययुगीन सामन्तवादी से मुक्ति पाने के सांस्कृतिक-आर्थिक प्रयास थे। पर भारत में यह विचार उस शहरी बुद्धिजीवी वर्ग ने उठाया और विकसित किया जिसकी अपनी जड़ें सामन्तशाही एवं ब्रिटेन की औपनिवेशिक शोषण व्यवस्था में पैठी हुई थीं। फलस्वरूप, इन विचारों का देशव्यापी प्रचार होने के बजाय शिक्षित शहरी बुद्धिजीवी वर्ग तक ही ये सीमित रहे। यहाँ भी इन पर अमली जामा पहनाने के बजाय, ऐसे विचार केवल वैचारिक द्वन्द्वों तक ही सीमित रहे। दूसरी तरफ आम ग्रामीण जनता जिसे सामन्तशाही से मुक्ति पानी थी वहाँ पारंपरिक सामन्तशाही विचार में कोई परिवर्तन नहीं हुआ। लोकमंच की लोकप्रियता के बावजूद उसका वैचारिक क्रान्ति में कोई योगदान नहीं रहा। उनके विचार, मूल्य सभी प्राचीन और रूढ़िग्रस्त रहे। ग्रामीण जनता की आर्थिक-सामाजिक बेड़ियों से उनका कोई सरोकार नहीं था। शहरी रंगमंच ने इन प्रश्नों को उठाया जरूर, लेकिन इसका लाभ आम जनता तक नहीं पहुँचा।

परम्परागत शहरी रंगमंच के दायरों के अन्दर रहकर काम करने के बावजूद, धीरे-धीरे भारत की रंगमंचीय स्थिति के बारे में अवधारणा स्पष्ट होने लगती है। अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद 'वह' रंगमंच के लिए एक नई भाषा तलाशने की कोशिश करता है जिससे दर्शकों से बेहतर संवाद कायम किया जा सके, साथ ही 'वह' शहर-गाँव के बीच के द्विविभाजन के बारे में भी सोचता है। उसकी इस खोज में, एक 'फ्री-थिएटर' या मुक्त रंगमंच की अवधारणा भी शामिल होती है। वह ऐसे रंगमंच की कल्पना करता है, जो कि शहरी दर्शकों के मध्यम और उच्च वर्ग तक ही सीमित न हो और न ही ये मेहनती जनता के सरोकारों और समस्याओं से कटा हुआ ऐसा रंगमंच हो जो, यथार्थ से परे, पिछड़े मूल्यों से जुड़ा हो। उसे धीरे-धीरे अहसास होने लगता है कि इसके लिए एक 'लचीला' कम खर्चीला और आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाले रंगमंच की ज़रूरत है, एक तीसरे रंगमंच की जो कम-से-कम उसकी ज़रूरतों को पूरा कर सकता था।

और अब, जब 'उसने' पूरी तरह से प्रोसेनियम रंगमंच से अपने को अलग कर लिया था, उसने देखा कि रंगमंच की जीवन्त ताक़तों के सहारे वह दर्शकों से कहीं बेहतर संवाद कर पा रहा था। साथ ही 'फ्री-थिएटर' जो कि लचीला, कम खर्चीला और सहज ही एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जा सकने वाला रंगमंच था; जो प्रोसेनियम रंगमंच जैसे पैसों पर आश्रित नहीं था उसका यह रंगमंच उसके दो उद्देश्यों की पूर्ति करता था और दो दिशाओं की और बढ़ सकता था। एक, यह एक अन्तरंग रंगमंच था जहाँ सघन भावात्मक आदान-प्रदान सम्भव था। दूसरे, कि बिना इस बात की प्रतीक्षा किये कि दर्शक पहुँचेंगे, नाटक को ही दर्शकों तक आसानी से ले जाया जा सकता था। इन दोनों के माध्यम से ही रंगमंच को 'फ्री' या 'मुक्त'

करना, सैद्धांतिक रूप से और व्यावहारिक रूप से सम्भव था क्योंकि इस रंगमंच को दर्शकों की इच्छा से दिए गए आर्थिक सहयोग से चलाया जा सकता था और इसके लिए प्रवेश शुल्क जैसी शर्त की ज़रूरत नहीं थी। यह बेहद महत्वपूर्ण बात थी, महज इसलिए नहीं कि हमारे देश की अधिसंख्य जनता नाटक के टिकट का पैसा नहीं जुटा सकती है, बल्कि इसलिए भी कि रंगमंच सैद्धांतिक रूप से एक 'मानवीय' क्रिया है जहाँ लोगों को (दर्शकों और अभिनेताओं को) बिना किसी भेदभाव के मिलना चाहिए। जिससे उनके बीच एक 'मानवीय' सम्बन्ध बन सके। जब हम प्रवेश शुल्क को नाटक के लिए एक ज़रूरी शर्त बना लेते हैं, तो दर्शकों और अभिनेताओं के बीच क्रेता-विक्रेता जैसा सम्बन्ध स्थापित हो जाता है, जो समाज के लिए भले ही ज़रूरी क्यों न हो, पर ऐसे सम्बन्ध में 'मानवीय' नहीं कहा जा सकता है।

और अन्ततः एक रंगमंच की स्थापना कोलकाता में की गई। यह प्रदर्शन एक कमरे में करता है। प्रचार केवल व्यक्ति से व्यक्ति के माध्यम से होता है। दर्शकों से केवल एक रुपया चन्दा लिया जाता है- वह भी ज़रूरी नहीं है। यह संगठन विभिन्न स्थानों जैसे सार्वजनिक पार्क, गाँव, शहरी स्लम बस्ती, ऑफिस, फैक्टरी, कॉलेज के पार्क आदि स्थलों पर प्रदर्शन करता है।

हालाँकि दोनों ही तरह के प्रदर्शनों का मूल दर्शन एक ही है फिर भी उनकी भाषा भिन्न है, क्योंकि दोनों के वातावरण में काफी अन्तर है। एक कमरे में कुछ दर्शकों के बीच सीधा सम्पर्क सम्भव है। पर सार्वजनिक स्थल पर जहाँ कि कभी-कभी दर्शकों की संख्या सैकड़ों तक पहुँच जाती है इस तरह व्यक्तिगत सम्बन्ध सम्भव नहीं है फिर भी प्रगतिशील रंगमंच उन गाँवों और स्लम तक पहुंच रहा है, जो कभी शहर में इस मंच तक नहीं पहुंच पाते। इस उपलब्धि के लिए, ऐसी भाषा के विकास के लिए परिश्रम आवश्यक है जो नए रंगमंच की दोनों विधाओं से न्याय कर सके।

अतः हमारी इस प्रतिनिधि की भाषा में परिवर्तन आता है और उसके रंगमंच की भाषा लगातार बदल रही है। लेकिन यह बदलाव केवल परिवर्तन के लिए नहीं है, न ही प्रयोग प्रयोग भर के लिए है। उसका विश्वास 'कला कला के लिए' या 'रंगमंच रंगमंच के लिए' पर कभी नहीं रहा है। पूरी प्रक्रिया एक दर्शन से जुड़ी है। उसका मानना है कि नई भाषा एक आन्दोलन से ही आ सकती है। और यह आन्दोलन कलकत्ता एवं उसके पास के गाँव या बंगाल एवं भारत के अन्य ग्रामीण क्षेत्रों में भी तेजी से विकसित हो रहा है। यह एक स्वतःस्फूर्त प्रक्रिया है जिसमें कई व्यक्ति स्वेच्छा से जुड़ते जाते हैं। और अपनी तरह से आज के समाज की समस्याओं की ओर लोगों का ध्यान आकर्षित करते हैं।

रंगमंच अपने-आप में कभी दुनिया को बेहतरी के लिए नहीं बदल सकता है, लेकिन वह इस पूरी प्रक्रिया का हिस्सा बन ही सकता है। और इस उद्देश्य के लिए रंगमंच की भाषा में ज़रूरी बदलाव आये, यही हम कामना कर सकते हैं और प्रयास कर सक्ते हैं।

(अशोक भौमिक द्वारा संपादित पुस्तक 'बादल सरकार : व्यक्ति और रंगमंच' से साभार)

परम्परागत शहरी रंगमंच के दायरों के अन्दर रहकर काम करने के बावजूद, धीरे-धीरे भारत की रंगमंचीय स्थिति के बारे में अवधारणा स्पष्ट होने लगती है। अपनी तमाम सीमाओं के बावजूद 'वह' रंगमंच के लिए एक नई भाषा तलाशने की कोशिश करता है जिससे दर्शकों से बेहतर संवाद कायम किया जा सके, उसे धीरे-धीरे अहसास होने लगता है कि इसके लिए एक 'लचीला' कम खर्चीला और आसानी से एक स्थान से दूसरे स्थान तक ले जाने वाले रंगमंच की जरूरत है, एक तीसरे रंगमंच की जो कम-से-कम उसकी जरूरतों को पूरा कर सकता था।

जन नाटककार **शिवराम** से **पल्लव** का संवाद

शिवराम

सातवें-आठवें दशक में आए प्रगतिशील जनवादी उभार में नुक्कड़ नाटकों की अहम् भूमिका रही है। इसके बाद तो एक विधा के रूप में भी नुक्कड़ नाटक को ख्याति और महत्व प्राप्त हुआ। जो लोग इनके बारे में जानकारी रखते हैं उन्हें यह ठीक तरह मालूम है कि 'जनता पागल हो गई है' देश भर में सर्वाधिक मंचित-लोकप्रिय नुक्कड़ नाटक रहा है। इसकी रचना की थी शिवराम ने। शिवराम मूलतः सृजनधर्मी और संघर्षशील संगठनकर्ता रहे। वे एक साथ कई मोर्चों पर जूझने वाले सिपाही थे जो साहित्य और नाटक को जनसाधारण से जोड़ने के बड़े पक्षधर रहे। राजस्थान के इस रचनाधर्मी को हिन्दी पाठक उनकी लघु पत्रिका 'अभिव्यक्ति' के कारण भी जानते रहे। शिवराम के नुक्कड़ नाटकों के संकलन 'जनता पागल हो गई है' तथा 'घुसपैठिये' शीर्षक से प्रकाशित हो चुके हैं। पिछले दिनों शिवराम का निधन हो गया। 'रंग संवाद' के इस अंक में युवा सृजनधर्मी पल्लव से शिवराम की लंबी बातचीत प्रस्तुत है, जिसे सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' से हम साभार उद्घृत कर रहे हैं।

नुक्कड़ नाटक : प्रतिरोध की आवाज़

आप नाटक की दुनिया में कैसे आए? उस समय कैसा माहौल था और वे कौन से कारण थे जिनसे यह रास्ता ठीक जान पड़ा।

शिवराम : मैं 1973 तक इस निष्कर्ष पर पहुँच चुका था कि आज की राजनैतिक सामाजिक व्यवस्था ही सब बुराईयों और समस्याओं की जड़ है। अतः इस व्यवस्था को बदला जाना चाहिए। इसके लिए जनजागरण और जन लामबंदी होनी चाहिए। उन दिनों मैं दूरसंचार विभाग में अस्थाई कर्मचारी था। नौकरी करते हुए इस उद्देश्य के लिए कि क्या किया जाए, यह सवाल मेरे सामने था। मैंने इसके लिए शिक्षा, साहित्य और नाटक के साथ कर्मचारी श्रमिक आन्दोलनों में भागीदारी का रास्ता चुना।

उन दिनों आप कहाँ थे और शुरुआत कैसे हुई?

- उन दिनों मैं कोटा के पास रामगंजमण्डी कस्बे में था। मैंने एक निःशुल्क सांध्य विद्यालय खोला। मेरे सम्पर्क के कुछ विद्यार्थियों ने एक ऐसे कमरे की व्यवस्था कर ली, जिसका किराया नहीं देना था। वैचारिक मित्रों की संख्या बढ़ने लगी। मैंने उस समय एक प्रश्नावली तैयार कर रखी थी। रामगंजमण्डी के स्थानीय नेताओं से और बाहर से आने वाले नेताओं से हम उन प्रश्नों के उत्तर माँगते थे। उस अंचल में उन दिनों समाजवादी पार्टी का प्रभाव था। कुछ अच्छे कार्यकर्ता थे। उस वक्त के वयोवृद्ध समाजवादी नेता लक्ष्मणदास लूथरा से मुझे आचार्य नरेन्द्र देव और लोहिया का काफी साहित्य मिला। इसी बीच स्वयं प्रकाश की प्रेरणा से मैंने मार्क्सवाद का विधिवत अध्ययन किया। रामगंजमंडी से गोआ आन्दोलन में शहीद हुए पन्नालाल यादव की एक चौराहे पर प्रतिमा लगी थी। वे अनुसूचित समुदाय से थे। उनकी मूर्ति तो लगा दी गई लेकिन वह उपेक्षित सी ही रहती थी। हमने उस चौराहे को केंद्रित कर कार्यक्रम किए।

और शायद यहीं से मंच से जुड़ा उत्पन्न हुआ होगा?

- हाँ। इसी बीच 'क्यों' (सम्पादक : मोहन श्रोत्रिय और स्वयं प्रकाश) का एक अंक आया था, जिसमें 'साहित्य और मंच' विषय पर परिचर्चा थी। इस परिचर्चा के बाद मेरा रुझान मंच के उपयोग की ओर बढ़ता गया। संभवतः 1973 में ही हमने कस्बे के मुख्य चौराहे पर नाटक और कवि सम्मेलन का कार्यक्रम रखा। 'आगे बढ़ो' नाटक किया। दूसरे दिन कवि सम्मेलन में स्वयं प्रकाश और नंद भारद्वाज दो कवि आए, कहानीकार रमेश उपाध्याय भी आए। भारी जनसमूह के बीच ये कार्यक्रम हुए। नाटक और कविताएँ दर्शकों-श्रोताओं द्वारा उत्साहपूर्वक ग्रहण की गई, रमेश उपाध्याय की कहानी का स्वयं उनके ही द्वारा मंच से पाठ किया गया और श्रोता मंत्रमुग्ध सुनते रहे। श्रोताओं की संख्या तीन हजार से कम नहीं रही होगी। यह अद्भुत था। मंच के इस प्रभाव ने मुझे इस दिशा में और मजबूती से आगे बढ़ने को प्रेरित किया।

'जनता पागल हो गई है' उन्हीं दिनों लिखा गया होगा? यह कैसे हो पाया?

- 1974 की रेल हड़ताल के दौरान या ठीक बाद मैंने अपने छोटे भाई पुरुषोत्तम की माँग पर 'जनता पागल हो गई है' लिखा था। उसे झालावाड़ महाविद्यालय में नाटक करना था। ...उस समय सव्यसाची रामगंज मण्डी आए थे और वे उस नाटक की स्क्रिप्ट अपने साथ ले गए और उत्तरार्द्ध के नवें अंक में वह छपा। संभवतः वह अंक 1974 में ही प्रकाशित हुआ था। 'आगे बढ़ो' नाटक के उन दिनों

हमने कई प्रदर्शन सुनेल-कोटा आदि स्थानों पर किए। यह नाटक आपालकाल के दौरान और बाद में भी हम खेलते रहे। ....तो मैंने नाटक का यह असर अनुभव किया कि नाटकों से शुरू हुई छोटी-छोटी गतिविधियाँ जन आन्दोलनों का रूप लेने लगीं। बाराँ के मेरे ऐसे अनेक अनुभव हैं, जो बाद में अन्य स्थानों पर भी अलग-अलग अन्दाज़ में सामने आए।

नुक्कड़ नाटक के रूप में कैसे बदली या प्रसिद्ध हुई?

- रंगमंच में हमने नाटक की जो विधा चुनी, वह नुक्कड़ नाटक कही जाएगी, हमें पता नहीं था। हम तो चौराहों-चौपालों पर, जहाँ भी नाटक करने लायक जगह दिखती, नाटक लेकर उतर जाते थे। इसीलिए मैंने अपने नाटकों को 'जन नाटक' ही कहा। यह और बात है कि 'जनता पागल हो गई है' को देश भर में व्यापक स्तर पर नुक्कड़ नाटक कहा गया और नुक्कड़ों पर खेला गया। हमारा उद्देश्य जन-जागरण था इसलिए जनता के बीच जाकर नाटक करने का रास्ता हमने चुना।

-जन जागरण में भी आप नाटक के माध्यम से कौन सी बातें कहना चाहते हैं?
दर्शकों से किस तरह का संवाद स्थापित करना चाहते हैं?

- हम नाटक के माध्यम से दर्शकों की शोषण-उत्पीड़न के विरुद्ध संघर्षशील चेतना जाग्रत करना चाहते हैं। हम अपने दर्शकों से घटनाओं के मंचन, पात्रों के मध्य संवादों एवं पात्रों और सूत्रधार द्वारा सीधे दर्शकों को सम्बोधित कर संवाद स्थापित करते हैं। हमने देखा है पल्लव कि कई बार दर्शकों से हमें प्रति उत्तर मिलते और हम उनसे बातचीत भी करते थे, मंच से। नाटक के दौरान पात्रों को छूट होती थी, दर्शकों की प्रतिक्रिया पर वह नाटक के दौरान गतिशीलता को बनाए रखते हुए अपनी प्रतिक्रिया दे और इस तरह दर्शकों को नाटक में शामिल कर ले। यह तो हुआ कि हम किस तरह से संवाद स्थापित करते हैं। जहाँ तक किस तरह के संवाद की बात है तो जाहिर है वह ऐसे संवाद की कोशिश है जो जनसंघर्षों-जन आंदोलन को उत्प्रेरित करें।

मंचीय नाटक और नुक्कड़ नाटक में मूलतः क्या फर्क है जो दोनों को पृथक विधा बनाते हैं या ये दोनों एक ही विधा हैं जिन्हें अलग-अलग तरह से प्रदर्शित किया जाता रहा है। मंचीय नाटक का अपना व्याकरण है। उसकी भाषा भिन्न है। वहाँ सिर्फ शब्दों की भाषा नहीं है। वहाँ ध्वनि और प्रकाश की भाषा भी है। वहाँ पात्रानुकूल वस्त्र सज्जा और कथानक के अनुकूल दृश्य संरचना के भी व्यापक आयाम हैं, और इनकी भी अपनी एक भाषा होती है। मंच पर निर्देशक और अभिनेता दोनों के ही पास विविध सहयोगी उपकरण हैं। मंचीय नाटक में दर्शकों की लम्बी अवधि की व्यवधान-रहित उपस्थिति की उम्मीद की जा सकती है। इसलिए नाटक में धीमी गति भी हो सकती है। कथानक में जटिलता भी हो सकती है। प्रतीकात्मकता का कठिन स्वरूप वही हो सकता है। मंचीय नाटक के दर्शक आमतौर पर पढ़े-लिखे मध्यवर्ग और साहित्यिक अभिजात वर्ग से होते हैं। उनकी अभिरुचियाँ और सौन्दर्यबोध अपने ढंग के विशिष्ट होते हैं। मंचीय नाटक को इसलिए उनकी अभिरुचियों और सौन्दर्यबोध के निकट, समानान्तर जाना होता है। आमतौर पर मंचीय नाटक रसास्वादन के लिए ज्यादा फिक्रमंद होते हैं।

....वहीं दूसरी ओर नुक्कड़ नाटक जनसाधारण के बीच एक सीधा सांस्कृतिक हस्तक्षेप है। उसकी अपनी भाषा है, अपना व्याकरण है। यहाँ अभिनेता के पास अपने तन-मन के अलावा कुछ नहीं है। देह भंगिमाएँ, गति और स्वर यहाँ अभिनेता के मुख्य उपकरण हैं। थोड़ा बहुत 'मेकअप' या वस्त्र सज्जा का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन वह बहुत सीमित ही सम्भव है। कथानक की जटिलता या उसकी

नुक्कड़ नाटक जनसाधारण के बीच एक सीधा सांस्कृतिक हस्तक्षेप है। उसकी अपनी भाषा है, अपना व्याकरण है। यहाँ अभिनेता के पास अपने तन-मन के अलावा कुछ नहीं है। देह भंगिमाएँ, गति और स्वर यहाँ अभिनेता के मुख्य उपकरण हैं। थोड़ा बहुत 'मेकअप' या वस्त्र सज्जा का उपयोग किया जा सकता है। लेकिन वह बहुत सीमित ही सम्भव है। कथानक की जटिलता या उसकी धीमी गति यहाँ नहीं चल सकती। यहाँ सरलता की कला सीखनी होती है।

धीमी गति यहाँ नहीं चल सकती। यहाँ सरलता की कला सीखनी होती है। ऐसा नहीं है कि यहाँ प्रतीक नहीं होते या भाषा मुहावरेदार नहीं होती या कथानक में कोई गूढ़ता या बुनावट नहीं होती। ऐसा भी नहीं है कि सपाटता यहाँ कि मुख्य प्रवृत्ति हो। फर्क यही है कि यहाँ ऐसे प्रतीक होते हैं जिनसे जनसाधारण परिचित हैं, यहाँ वही मुहावरे प्रयुक्त किए जा सकते हैं जो आम जनजीवन में प्रचलित है। नुक्कड़ नाटक जनसाधारण की अभिरुचियों और सौन्दर्यबोध के अनुरूप होते हैं। वे मनोरंजन तो करते ही हैं, जागरूकता और चेतना निर्माण का काम भी वे करते हैं। वे मात्र रसास्वादन के लिए हर्गिज नहीं होते, वे अधिक लम्बे नहीं होते। अनेक अंक और दृश्य विभाजन जैसी चीज उनमें नहीं होती। अनेक दृश्यों को संयोजित करते हुए भी वह एक निरन्तरता बनाए रखता है। नुक्कड़ नाटक के दृश्य विभाजित नहीं होते, सहज संयोजित होते हैं। संगीत-गीत और काव्यात्मक संवादों का उपयोग नुक्कड़ नाटकों में किया जाता रहा है।

- सस्ते प्रचार की विधा जैसा आरोप भी नुक्कड़ नाटकों पर लगाया गया है?

- कुछ लोग नुक्कड़ नाटक को एक प्रचारात्मक विधा भर मानते हैं, यह गलत है। नुक्कड़ नाटक की अपनी कला है, इस कला के अपने मापदण्ड हैं। नुक्कड़ नाटकों का उद्देश्य चूंकि जनजागरण है अतः वे आमतौर पर तात्कालिक जनसमस्याओं को उठाते हैं। ....और राजनीति जनसमस्याओं के लिए इस कदर जिम्मेदार हैं कि जनसमस्याओं पर बात हो और राजनीति पर न हो ऐसा हो नहीं सकता। अतः नुक्कड़ नाटक आमतौर पर राजनीतिक कलेवर लिए दिखाई पड़ते हैं। ....लेकिन मैं जोर देकर कहूंगा कि नुक्कड़ नाटक और मंचीय नाटक एक ही विधा नहीं है, जिन्हें अलग-अलग तरह से प्रदर्शित किया जाता रहा है। मंचीय नाटक में मात्रात्मक अंतर ही नहीं है, गुणात्मक अंतर भी है।

-अस्सी के दशक में सफ़दर हाशमी और कई लोगों का नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में आने का क्या कारण था? और फिर से पूछ रहा हूँ कि क्या एक नुक्कड़ नाटक के लिए जनसंघर्ष और राजनैतिक विचारधारा से संबंध अनिवार्य होता है?

- सफ़दर हाशमी आपातकाल के बाद ख़ासकर जनवादी लेखक संघ के गठन के दिनों में सक्रिय हुए थे। उसी अवसर पर मैंने उनका पहला नाटक 'मशीन' देखा था। नुक्कड़ नाटक के क्षेत्र में बिहार में बहुत लोग सक्रिय हुए। इन सबके अपने-अपने कारण रहे होंगे, लेकिन एक बात में सब समान थे कि सभी जनसंघर्षों और जनजागरण के पक्षधर थे। इनमें से बहुत से किसी क्रांतिकारी राजनैतिक दल से जुड़े हुए थे, तो ऐसे भी थे जो कि किसी राजनैतिक दल से जुड़े नहीं थे। लेकिन सामाजिक परिवर्तन की राजनैतिक चेतना सभी में मौजूद थी। नुक्कड़ नाटक लिखने या करने की तो यह अनिवार्य शर्त नहीं है कि नुक्कड़ नाटक करने वाले जनसंघर्ष या राजनैतिक संगठनों से संबंधित हों ही। लेकिन जब आप सामाजिक रूप से सक्रिय होते हैं तो समान उद्देश्य के लिए कार्यरत सामाजिक-राजनैतिक संगठनों से आपसदारी बनने लगती है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। हमने नाटक पहले किए, आन्दोलन-संगठन बाद में बने, यह एक अनुभव है। दूसरा अनुभव सफ़दर का है कि वह वहीं नाटक करते थे जहाँ आंदोलन या संगठन पहले से मौजूद होते थे।

-आपके नुक्कड़ नाटक तीखे हैं लेकिन उनके कलात्मक गुण भी सुरक्षित हैं। आखिर आप कला संबंधी पहलुओं और राजनैतिक विचारधारा के बीच संतुलन कैसे साध पाते हैं?

- मेरे नाटक कैसे हैं, यह तो मैं कैसे बता सकता हूँ। मुझे नहीं मालूम उनमें कलात्मक गुण कितने मौजूद हैं और वे कितने तीखे हैं। मुझे तो संतोष इस बात का है कि उनकी प्रभावोत्पादकता असंदिग्ध है। जिस उद्देश्य के लिए वे लिखे गए उसे वे पूरा करते हैं। कला और राजनीति के बीच संतुलन साध पाने का जहाँ तक प्रश्न है, ये दोनों सदैव एक दूसरे के विरोधी नहीं होते। जनपक्षधर राजनीति ने सदैव कलाओं को संरक्षण प्रदान किया है। यह शोषक वर्गों की राजनीति है जो कलाओं को विकृत करती है, उन पर अनचाहे दबाव बनाती है। कलाएँ स्वभाव से ही सौन्दर्यप्रधान होती हैं और यदि उन पर निहित स्वार्थी शक्तियों के दबाव नहीं हो तो वे स्वाभाविक रूप से जनहितकारी होती हैं। शासक वर्ग भी जब विकासशील होता है तो जनता और उसके बीच अन्तर्विरोध तीव्र नहीं होते और इसलिए वह कलाओं पर कोई दबाव बन्धन नहीं बनाता। विकासमान सामंती, पूंजीवादी व्यवस्थाओं में ऐसी कला भी विकसित हुई, जिसने स्वतंत्रता और स्वायत्तता का पर्याप्त आधार प्राप्त किया। लेकिन जैसे ही शासक-शोषक वर्गों और जनसाधारण के बीच का अन्तर्विरोध उग्र और तीव्र होने लगता है वह जनपक्षधर कलाओं से उनकी स्वायत्तता-स्वतंत्रता परोक्ष-प्रत्यक्ष रूप से छीन लेता है। ...सजग राजनैतिक-सामाजिक कार्यकर्ता कलाओं से उतने अनभिज्ञ नहीं होते, बल्कि वे उतने भिज्ञ तो होते ही हैं जितने कलाकार राजनीति और समाज से। जनपक्षधर राजनीतिज्ञ खासकर क्रांतिकारी राजनीतिज्ञ-साहित्यकार और साहित्यकार, राजनीतिज्ञ भी हुए हैं। रामप्रसाद बिस्मिल या भगतसिंह या विजय

सिंह पाथिक को देखिए। माओ को या मार्क्स को, या होची मिन्ह को देखिए जिनकी कलात्मक अभिरुचियाँ किसी कलाकार से कमतर नहीं थीं।

.....दरअसल संतुलन बैठाने की समस्या तब होती है जब कलाकार का राजनीति से संतुलन नहीं हो। वह राजनीति से दूर रहने की राजनीति करते हुए जनपक्षधर कला सृजन करते रहना चाहता हो। मूल यही है पल्लव कि शब्दों, रेखाओं, रंगों का संयोजन, मनुष्यों के संयोजन से हमेशा आसान होता है। कला राजनीति से कठिन नहीं होती।

-नाटक की स्क्रिप्ट आपके लिख देने पर अंतिम हो जाती है या अभिनेता कोई छूट भी ले पाते हैं?

- किसी भी नाटक की मंचीय हो या नुक्कड़ लेखक की लिखी प्रारम्भिक स्क्रिप्ट कभी अंतिम नहीं होती। उसके पहले प्रदर्शन से हर अगले प्रदर्शन तक उसमें निरंतर परिवर्तन-परिष्करण होता रहता है। निर्देशक, अभिनेता और यहाँ तक कि दर्शक भी उसमें कुछ न कुछ जोड़ते-घटाते रहते हैं। यह भी सच है कि रिहर्सल के दौरान निर्देशक की योजना अनुसार तय की गई प्रस्तुति जब मंच पर आती है तो तात्कालिक कारणों से अभिनेता काफी कुछ जोड़ घटा देते हैं। यह अभिनेता की छूट का सवाल नहीं है। उसे कहा तो यही जाता है कि निर्देशक के अनुरूप ही करे। वह भी वैसा ही करता है। वह सायास छूट नहीं भी लेना चाहता है तो भी वह आवश्यकतानुसार कुछ परिवर्तन कर बैठता है और कई बार वे इतने प्रभावी होते हैं कि बाद में प्रस्तुति के स्थाई अंग बन जाते हैं। अभिनेताओं को मंच पर उतरते वक्त मुख्य निर्देश नाटक को अंतिम मंज़िल तक ले जाना होता है। इस हेतु मंच पर अचानक उपस्थित गतिरोध को तोड़ने के लिए भी उन्हें पूरी छूट होती है। यह मंचीय नाटकों और नुक्कड़ नाटकों दोनों के लिए ही तर्कसंगत और स्वाभाविक है।

-जनवादी और अभिजनवादी रंगकर्म में क्या अंतर है?

-जनवादी रंगकर्म और जनसाधारण से सम्बद्ध होता है वही अभिजनवादी रंगकर्म अभिजन समाज से संबंधित होता है। दोनों की सामाजिक स्थितियाँ, समस्याएँ, सौन्दर्यबोध और सौन्दर्यदृष्टि भिन्न होती है। दोनों की सौन्दर्याभिरुचियाँ, भाषा-मुहावरा और कला के प्रतिमान भिन्न होते हैं। इसीलिए अभिजनवादी कला मर्मज्ञ अक्सर जनवादी कला का उपहास करते पाए जाते हैं तो जनवादी कला मर्मज्ञ अभिजनवादी कला का, मानवीय वृत्तियों के कुछ ऐसे भी पहलू इन जीवनमूल्यों के प्रति भी दोनों पक्षों में दृष्टिभेद होता है।

-हिन्दी रंगमंच की स्थिति कैसी पाते हैं?

- हिन्दी रंगमंच की स्थिति इस दृष्टि से कतई ठीक नहीं है कि वह व्यवस्था की कृपा पर आश्रित हो गया है। इस दृष्टि से भी उसकी स्थिति ठीक नहीं है कि समकालीन विषयों पर नये नाटक बहुत कम आ रहे हैं, जो आ रहे वे भी उपेक्षित हैं। अधिकतर निर्देशक पुराने घिसे-पिटे नाटक करते पाए जाते हैं। ....भारतीय भाषाओं के श्रेष्ठ नाटकों के हिन्दी अनुवाद का काम नहीं के बराबर है। ....नाटक का महत्व कम किए जाने की प्रवृत्ति जोरों पर है। अब निर्देशकों के लिए नाटक नहीं एक स्क्रिप्ट, एक आलेख, एक आधार मात्र है जिस पर नाटक खड़ा करना है। अक्सर यह जुमले सुनने को मिलते हैं- 'यह निर्देशक का नाटक है', 'यह अभिनेताओं का नाटक है।' अर्थात् नाटककार का नाटक ही नाटक से गायब किया जाता दिखाई देता है। रंगकर्मियों में सामाजिक प्रतिबद्धता का गम्भीर लोप दिखाई देता है। आत्मकेन्द्रितता यहाँ भी व्याप्त है। साधना का स्थान तिकड़मबाजी ने ले लिया है। आज जनता का नाटक दोहरी मार झेल रहा है। व्यवस्था और सत्ता पोषित अकादेमियों

द्वारा तो यह तिरस्कृत है ही। जन आंदोलनों के क्षीण होने के कारण उन्हें अनेक प्रतिकूल परिस्थितियों का सामना करना पड़ रहा है। जनपक्षधर सामाजिक राजनैतिक संगठनों से प्राप्त सहयोग की स्थितियाँ भी उत्साहवर्द्धक नहीं रह गई है। फिर भी असगर वजाहत का 'जिन लाहौर नई देख्या ओ जन्म्या ई नईं' जैसे नाटक हैं, जो उम्मीद जगाते हैं।

-आप जब नुक्कड़ नाटक करने लगे तब और उससे पहले कैसी स्थिति थी और क्या लग रहा था?

- यह ठीक-ठीक तो नहीं बता सकता। मैं नाटक की दुनिया से नहीं आया था। जनता के बीच जब हमने जन नाटक शुरू किए तब यह बड़ी चर्चा का विषय बना। इप्टा के, पूर्व में चले, आन्दोलनों की जानकारियाँ मिलीं। 'इप्टा' के लोग उस वक़्त तीखे राजनैतिक नाटक नहीं खेल रहे थे, अभिजन समझ हावी थी। नुक्कड़ नाटक आंदोलन के रूप में इस नये जन-नाट्य उभार ने इप्टा को भी प्रभावित किया, वहाँ भी राजनैतिक नाटक होने लगे।

-आपके नाटक नुक्कड़ और मंच दोनों जगह खेले गए हैं, क्या फ़र्क़ महसूस किया आपने? वहाँ हमारी परम्परा कैसे आई है?

- मेरा नाटक जिन स्थितियों की उपज हैं, उन्होंने उसे विशिष्ट स्वरूप प्रदान किया है। वे नुक्कड़ पर भी खेले जाते रहे हैं और उनमें से अनेक मंचों पर भी खेले गए हैं। लेकिन मंच पर भी जब वे खेले जाते हैं तो उनकी गत्यात्मकता, उनकी निरंतरता, उनकी संवाद रचना, उनका वस्तु तत्व और कथानक उन्हें आम मंचीय नाटकों से भिन्न रूप प्रदान करता है। जब वे मंच पर खेले जाते हैं तो भी तन-भंगिमा, गति और स्वर ही कलाकार के मुख्य उपकरण बने रहते हैं। ध्वनि-प्रकाश प्रभाव और पात्रानुकूल मेकअप, वस्त्र सज्जा आवश्यक नहीं होते। ये सुविधाएं भी होती हैं तो प्रभावोत्पादकता में इनकी भूमिका नहीं होती। वे मंचीय नाटकों की परम्परागत जड़ता में पैदा करते दिखाई देते हैं। मेरे नाटकों में परम्परा पुराने संस्कृत नाटकों के अध्ययन से आई या लोक नाटकों के सीमित निजी अनुभवों से उस समय के (जब मैंने लिखना शुरू किया) नाट्य जगत से मेरा ऐसा संबंध नहीं था।

> रंगकर्मियों में सामाजिक प्रतिबद्धता का गम्भीर लोप दिखाई देता है। आत्म केन्द्रीयता यहाँ भी व्याप्त है। साधना का स्थान तिकड़मबाजी ने ले लिया है। आज जनता का नाटक दोहरी मार झेल रहा है। व्यवस्था और सत्ता पोषित अकादेमियों द्वारा तो यह तिरस्कृत है ही।

-क्या यह सही है कि 'जनता पागल हो गई' देश का पहला नुक्कड़ नाटक है?

- 'जनता पागल हो गई है' संभवतः इस दौर का तो पहला नुक्कड़ नाटक है ही। यह 1974 में आया। इससे पहले नुक्कड़ नाटकों के होने की कोई सूचना उपलब्ध नहीं है। असगर वजाहत, सफ़दर हाशमी, रमेश उपाध्याय और स्वयं प्रकाश के वे नाटक बाद में आए जो नुक्कड़ पर खेल गए। संभवतः वह हिन्दी का सर्वाधिक खेला गया नाटक भी है।

-नाटक के आपके अनेक अनुभव होंगे, कोई ऐसा जिसे आप शेयर करना चाहें। या कोई ऐसी घटना।

- नुक्कड़ नाटक के दौरान कोई ख़ास घटना या अनुभव? यह प्रश्न बहुत विस्तृत उत्तर की अपेक्षा करता है। हाँ, हर प्रदर्शन के दौरान कोई न कोई खास घटना या अनुभव होता ही है। उनमें से किसे चुनूं? ...एक बार बूँदी में ऋतुराज के निमंत्रण पर हम नाटक लेकर गए। पहुँचे तो पता चला कि इस मैदान में कोई भी कार्यक्रम बिना हंगामे के नहीं होता। बड़ी संख्या में दर्शक उपस्थित थे। हमने एकाध गीत के बाद नाटक शुरू किया ....'मशीन'। दर्शकों से पत्थर आने लगे, मैं मंच पर गया, नाटक वही फ्रीज किया और दर्शकों से कहा- ''हम आपको यह नाटक जबरन नहीं दिखाना चाहते ....आप देखना चाहेंगे तो ही दिखाएँगे ....दस मिनट आप शांति से देख लें फिर हम आपसे पूछेंगे ....आप चाहेंगे तो आगे बढ़ेंगे अन्यथा समाप्त...।'' इसके बाद नाटक 'मशीन' फिर शुरू हुआ। पूरा होने के बाद मैंने फिर पूछा... ''बोलो दोस्तो, हम समेटे अपना बोरिया बिस्तर...?'' दर्शकों से आवाज़ उठी ...''नहीं आप आगे कीजिए।'' फिर हमने ''हत्यारे' और 'जनता पागल हो गई है' नाटक और किए। ऐसे कई अनुभव और घटनाएं हैं जो गुदगुदाती रहती हैं और बड़ा सुख देती हैं।

-जिस तरह ईश्वर संस्कृति के नाम पर तोड़फोड़ और हमले हो रहे हैं, आप उन्हें कैसे देखते हैं?

- आर.एस.एस. या दूसरे ऐसे संगठनों का जो हौआ हम खड़ा कते हैं और फिर उससे आतंकित हो खुद ही सुरक्षित स्थान तलाश करने लगते हैं, यह ठीक नहीं है। जनआंदोलनों द्वारा ही आप उनका आतंक तोड़ सकते हैं। उनसे लड़ तो पाते हैं कि वे कायरों की जमात है, पर लड़े तब न। सिर्फ भय फैलाएँ और विलाप करें तो कांग्रेस की शरण में जाने के अलावा कुछ नहीं सूझता।

-नुक्कड़ नाटक का भविष्य क्या नज़र आता है?

- नुक्कड़ नाटक का भविष्य उज्ज्वल है। आने वाले दिन जन प्रतिरोधों के उभार के दिन होंगे। फिर एक बार नुक्कड़ नाटक अभियान जनता के बीच उभरेगा।

-पिछले वर्ष आप जिस नुक्कड़ नाटक यात्रा पर निकले थे, वह कैसा अनुभव रहा? चित्तौड़गढ़, कपासन और उदयपुर में भी इस अभियान में शामिल था। मेरे लिए यह सुखद आश्चर्य से भरा अनुभव था। आप इस बारे में क्या सोचते हैं?

- आपने ठीक ही कहा। यह एक सुखद आश्चर्यजनक अनुभव था। जब बार-बार यह कहा जा रहा हो कि गम्भीर कला कर्म और साहित्य जनता से कटता जा रहा है। हमने देखा कि किस कदर हर जगह दर्शक उमड़े। हमने उन्हें प्रभाव ग्रहण करते भी देखा। कहीं हम एक नाटक करते, कहीं दो। अर्थात् जो दर्शक आ गया वह पौन घंटे से डेढ़ घंटे तक के लिए प्रस्तुतियों से बंध गया। हमने अपनी नाट्य प्रस्तुतियों को अपने समय में हस्तक्षेप करते और अपना प्रभाव छोड़ते महसूस किया। दूसरी महत्वपूर्ण बात यह थी कि आठ जिलों में अठारह स्थानों पर हम गए और नाट्य प्रस्तुतियाँ दीं। सभी जगह हमें प्रगतिशील मित्रों का भरपूर सहयोग और उत्साहवर्द्धक समर्थन मिला। हमारे साथ रविकुमार की पोस्टर प्रदर्शनी भी थी और काफी संख्या में पुस्तकें भी, जिनका बिक्री के लिए स्टाल लगाते थे। नाट्य प्रस्तुतियों के पश्चात् हम दर्शकों से सहयोग की मांग भी करते थे। आर्थिक स्थिति यह रही कि तमाम खर्चों के बावजूद संस्था के पास लगभग तीन हजार रु. की बचत रही। अर्थात् कोई कुछ महत्वपूर्ण करने को उठे तो सही, कुछ करे तो सही, जनता का सहयोग मिलता है, मित्र शक्तियाँ स्वागत के और सहयोग के लिए तत्पर दिखाई देती है।

नयी चुनौतियों का सामना कलाएँ कैसे कर सकती हैं।

- नयी चुनौतियाँ क्या हैं? साम्राज्यवादी शक्तियों की नई उपनिवेशीकरण की मुहिम अर्थात् वैश्वीकरण-उदारीकरण। कलाएँ यदि मनोविनोद के लक्ष्य तक सीमित हैं, तो उनके सामने तो नए स्वामियों की रुचियों को जानने और उनसे अनुकूलित होने की चुनौती भर है। हमारी इसमें कोई रुचि नहीं है। हम तो श्रमजीवी जन-गण के पक्षधर कलाकार हैं। हमारे लिए तो चुनौतियों में यह इजाफा हुआ है कि नये दुश्मनों और उनके आर्थिक-सामाजिक-राजनैतिक आक्रमण के नये रूपों से भी पर्दा उठाना है। श्रमजीवी जनगण के बीच प्रतिरोध और संघर्ष की चेतना जाग्रत करती है। जनता के बीच आज भी पुराने कलारूप प्रभावी हैं। आवश्यकतानुसार नये कलारूप भी सृजित करना एक चुनौती है। संभ्रमों विभ्रमों से मुक्ति, जनगण को धर्म-जाति-नस्ल क्षेत्र के आधार पर परस्पर बाँटने और लड़ाने के साम्राज्यवादी अभियान को प्रभावहीन करना, सामाजिक परिवर्तन कामी शक्तियों में नया हौसला जगाना हमारा मक़सद है। कलाएं जनसाधारण की अभिरुचियों कला संस्कारों के अनुरूप ढले और उनके बीच सक्रिय हों तो नयी चुनौतियों का सामना किया जा सकता है। शहरी लोगों के बीच फंसी रह कर कलाएं आज की चुनौतियों का सामना नहीं कर सकती। संतुष्ट किस्म के, कुछ आनन्द कुछ तकलीफ के साथ ठीक-ठीक जीवनयापन करने वाले और तमाम सुविधाओं के बीच जीने वाले प्रभावशील प्रकार के लोगों के दायरे से हमारी कलाओं को बाहर आना पड़ेगा। यह समय दूसरे पाले के लोगों में अपने पाले के लोगों के लिए दया, करुणा जगाने का नहीं है। अपने पाले के लोगों में संघर्ष और प्रतिरोध जगाने का है।

नाटक सदा एक नई आहट

-सेवाराम त्रिपाठी

नाटक और रंगमंच एक समग्र अनुभव का नाम है जो कई तत्वों पर निर्भर करता है, कई कलाओं का योग भी है और जिसका आस्वाद भी एक पूरे प्रेक्षक समुदाय के बीच ही संभव है। इस समग्र अनुभव में रंगमंच का सार तत्व इस बात में निहित है कि वह प्रभाव पैदा करता है।

भरत के नाट्य शास्त्र में रंगशाला या प्रेक्षागृह या रंगमंच, रंगशीर्ष, रंगपीठ, मतवारिणी आदि के संबंध में जो विवरण प्राप्त हैं वे तत्कालीन भारतीय रंगमंच के अत्यन्त लोकप्रिय और समृद्धशाली होने के अन्यतम उदाहरण है। रंगमंच लोक शिक्षा, समाज सुधार का भी सशक्त माध्यम है। रंगमंच को संसार का चित्र भी माना गया है। अर्थात् संसार में जो कुछ है वह रंगमंच के दायरे में है। पश्चिमी संसार इसे थियेटर के रूप में पहचानता है। अंग्रेजी का थ्योरी शब्द उसी ग्रीक शब्द से निकला है जिससे थियेटर निकलता है। थियेटर का मतलब होता है टकटकी लगाकर देखना, सोचना।

रंगमंच ने बड़ी जोखिम भरी यात्रायें की हैं। भारत के सांस्कृतिक इतिहास में रंगमंच की अत्यन्त महत्वपूर्ण भूमिका रही है। विद्वानों ने भरत के नाट्य शास्त्र को पंचम वेद की संज्ञा से अभिहित किया और यही पंचम वेद भारत के कोने-कोने में विभिन्न क्षेत्रीय अस्मिताओं में, व्यवहारों में गूँजता रहा। संस्कृत रंगमंच, बंगाली, कन्नड़, मराठी, तमिल, तेलगू, गुजराती, पारसी, उड़िया, पंजाबी, हिन्दी व उर्दू रंगमंच और इसमें भी शास्त्रीय तथा लोक रंगमंच तरह-तरह के रूप हैं। अब तो भारतीय रंगमंच में पश्चिमी और अन्य रंगमंचों की तमाम खूबियाँ भी शामिल हैं। जिस तरह हमारी भारतीय संस्कृति में क्षेत्रीयताओं, धर्मों, मान्यताओं, लोक-रुचियों, लोक-विश्वासों, खान-पान, रहन-सहन की विभिन्नताओं में एकता के सूत्र हैं, उसी तरह भारतीय रंगमंच के प्रस्थान और विकास में एक दूसरे से लेने और सीखने का अद्‌भुत गुण विद्यमान है। रंगमंच की पुरानी अवधारणाओं में निरन्तर नये प्रयोग हुये हैं। भारतीय एवं पश्चिमी रंगमंच शास्त्रीय एवं लोक रंगमंच, पेशेवर और गैर पेशेवर रंगमंच इन सबने मिलकर रंगमंच को बहुत विस्तार दिया है। आज जिस रूप में रंगमंच हमारे सामने है यह जिन्दगी की, कलाओं के सभी रूपों और माध्यमों को अपने में संजोये हुए हैं। मसलन नाट्य लेखन, निर्देशन और परिकल्पना, मंच तकनीक एवं सज्जा, संगीत, नृत्य, वेशभूषा, प्रकाश व्यवस्था, ध्वनि संयोजन, प्रबंधन नाटक में प्रयुक्त होने वाली सामग्री, पात्र एवं उनका अभिनय, प्रेक्षागृह एवं दर्शक।

हमारे देश के सांस्कृतिक पर्यावरण में हमेशा रंगमंच की माँग उठती रही है। इसको विस्तार न मिलने की चिन्तायें जताई गई है। प्रसिद्ध नाटककार जयशंकर प्रसाद के शब्दों में- ''हिन्दी का कोई अपना रंगमंच नहीं है। जब उसके पनपने का अवसर था तभी सस्ती भावुकता लेकर वर्तमान सिनेमा में बोलने वाले थियेटरों का आरम्भ हो गया और फलतः अभिनयों का रंगमंच नहीं सा हो गया है। साहित्यिक सुरुचि पर सिनेमा ने ऐसा धावा बोल दिया है कि कुरुचि को नेतृत्व करने का सम्पूर्ण अवसर मिल गया है। रंगमंच की अकाल मृत्यु हिन्दी में दिखाई पड़ रही है।'' प्रसाद जी की यह मान्यता उनके समय के सोचे को प्रतिबिम्बित करती

आँख जो देखती है, शब्द उसका अनुमोदन करते हैं और इस प्रकार नाटक का शाब्दिक रूप और रंगमंच पर निर्मित स्थूल बिम्ब जीवन की एक जीती जागती तस्वीर खड़ी कर दिखाते हैं। इस तस्वीर को बनाने और उसको अर्थवत्ता प्रदान करने में नाटककार का ही नहीं रंगकर्मियों की एक पूरी टोली का योगदान होता है और इस योगदान में प्रेक्षक का योगदान भी जरूरी होता है

है। उस समय यह ज़रूर लगा था कि सिनेमा रंगमंच को निगल जायेगा पर ऐसा हुआ नहीं। सिनेमा भी एक बड़ा माध्यम है जन शिक्षण का। अच्छे और बुरे का संघर्ष तब भी था और आज भी है आज तो उत्तर आधुनिकता के विमर्श ने कविता, कला, इतिहास और मनुष्य के अंत की उद्घोषणाएं तक कर डाली हैं। विज्ञापनों के सामने कविता भी नहीं टिक पा रही है। फिर भी यह कहना ज़रूरी है कि विज्ञापन का असर तात्कालिक होता है और कविता कालजयी होती है।

रंगमंच से जुड़े लोग हमेशा यह मांग करते रहे हैं कि हिन्दी में ऐसे रंगमंच का निर्माण कब होगा जिस पर हिन्दी के नाटक सफलतापूर्वक अभिनीत किये जा सकेंगे? मांग यह भी है कि राष्ट्रीय स्तर पर और प्रदेश स्तर पर रंगमंचों का निर्माण हो। अब तो हर बड़े शहर और कस्बे में रंगमंच की आवश्यकता अनुभव की जा रही है। हमारे सामाजिक जीवन में रंगमंच की प्रतिष्ठा आज़ादी के इतने वर्षों बाद भी संभव नहीं हो पाई लेकिन ऐसा नहीं है कि यह रंग यात्रा कभी रुकी हो और अब तो इसका इतनी तेजी से शहरों और कस्बों में विस्तार होता नज़र आता है कि कहीं आगे चलकर यह केन्द्रीयता भी प्राप्त कर सकती है।

यूं तो रंगमंच भरत मुनि के पूर्व भी रहा होगा, लेकिन नाट्यशास्त्र में उन्होंने अत्यन्त विस्तार के साथ इसकी चर्चा की है। इससे यह अनुमान लगाना गलत न होगा कि इस, विशाल देश के हर कोने में किसी न किसी युग में अत्यन्त समृद्ध रंगमंच रहा होगा। नाटक को कालिदास ने 'शांतः चाक्षुष यज्ञ' कहा है। नाटक की वास्तविक अभिव्यक्ति रंगमंच के द्वारा ही संभव होती है। यह अभिव्यक्ति एकदम तात्कालिक, जीवंत, मूर्त और प्रभावी होती है। उसका आस्वादन रंगमंच पर ऐन्द्रिय-बोध के साथ सुगमतापूर्वक किया जाता है। गोविन्द चातक ने सही कहा है- ''आँख जो देखती है, शब्द उसका अनुमोदन करते हैं और इस प्रकार नाटक का शाब्दिक रूप और रंगमंच पर निर्मित स्थूल बिम्ब जीवन की एक जीती जागती तस्वीर खड़ी कर दिखाते हैं। इस तस्वीर को बनाने और उसको अर्थवत्ता प्रदान करने में नाटककार का ही नहीं रंगकर्मियों की एक पूरी टोली का योगदान होता है और इस योगदान में प्रेक्षक का योगदान भी ज़रूरी होता है अर्थात् उसकी अनुक्रिया के बिना रसास्वादन का कोई मतलब नहीं।''

चूंकि नाटक दृश्य माध्यम है इसलिये उसकी प्रभाव क्षमता अन्य माध्यमों की तुलना में ज्यादा व्यापक और प्रभावी है। आधुनिक युग में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने कई तरह के रंग प्रयोग किये। नाट्य लेखन से लेकर मंच निर्माण और उसके प्रदर्शन तक। उनके बाद यह दृश्य माध्यम काफी फैला। उनके नाटकों में भारतीय जन-जीवन की तात्कालिक स्थितियों को बखूबी संजोया गया है। कालांतर में फिल्मों ने और आज़ादी के बाद टी.वी. चैनलों ने रंगमंच को ज्यादा नुकसान पहुँचाया। यह भी कहा जाने लगा कि अब नाटकों का मंचन प्रभावी नहीं रह गया। फिर भी महानगरों के प्रेक्षागृहों में नाट्य प्रदर्शनों को देखने के लिए जिस तरह दर्शक जुटते हैं उससे रंगमंच की लोकप्रियता के सबूत मिलते हैं।

नुक्कड़ नाटकों के प्रदर्शन ने रंगमंच के क्षेत्र में नये विस्तार की सूचना दी है और नया विश्वास जगाया है। रंगमंच की परिभाषाओं को नये रूप में सहेजा है। इससे यह भी जाहिर होता है कि दर्शक सिनेमा और टी.वी. से बहुत सन्तुष्ट नहीं है। दूसरी बात यह कि नुक्कड़ नाटकों ने हमारे समकालीन संसार के यथार्थ को अनेक स्तरों पर प्रदर्शित किया है। एक ज़माना था जब नाटकों के अनुवादों से काम चलाया जाता था। हिन्दी में अच्छे नाटक उपलब्ध नहीं होते थे, लेकिन अब नाट्य लेखन बहुत गंभीरता से हो रहा है। उसमें तरह-तरह के प्रयोग किये जा रहे हैं। भावुकता और लिजलिजेपन के स्थान पर वैचारिक उत्तेजना और यथार्थ के भीतर के यथार्थ को सूक्ष्मता और कुशलता के साथ दर्ज़ किया जा रहा है।

हिन्दी का रंगमंच आंदोलन भारतेन्दु जी से विधिवत प्रारम्भ हुआ था और उसी दौरान कई नाटक मण्डलियाँ अस्तित्व में आईं जैसे- कविता वर्धनी सभा (1870), नेशनल थियेटर (1884), जैन नाटक मण्डली (1903), अग्रवाल बायज ड्रेमेटिक क्लब (1904)। कुछ मण्डलियाँ बाद में अस्तित्व में आईं मसलन श्री नागरी नाट्य कला संगीत मण्डली (1907), नागरी नाटक मण्डली (1909), आर्य नाटक सभा, रामलीला नाटक मण्डली, नागरी प्रवर्द्धिनी, भारतेन्दु मण्डल आदि। समूचे प्रोत्साहनों के बावजूद व्यावहारिक स्तर पर रंगमंच की शून्यता बनी ही रही। स्वतंत्रता संग्राम के दिनों में पृथ्वी थियेटर (1944), इप्टा (1943) संस्थायें सक्रिय रहीं। स्वतंत्रता के बाद एक नया उत्साह, एक नई सांस्कृतिक चेतना विकसित हुई उससे दिल्ली, इलाहाबाद, लखनऊ, बम्बई, कानपुर आदि शहरों में कई रंग संस्थायें दृश्य पटल पर अवतरित हुईं। नेशनल स्कूल ऑफ ड्रामा ने इब्राहिम अल्काजी के नेतृत्व में रंगमंच में नई स्फूर्ति का आविर्भाव हुआ। प्रयाग की नाट्य केन्द्र, प्रयाग रंगमंच, लखनऊ की नटराज, भारती, कानपुर की दर्पण, दिल्ली की थी आर्ट्स क्लब, लिटिल थिएटर ग्रुप, अभियान, नया थियेटर, हिन्दुस्तानी थियेटर, यांत्रिक, दिशांतर, इन्द्रप्रस्थ थियेटर, बम्बई

की थियेटर यूनिट, इप्टा तथा कलकत्ते की अनामिका जैसी संस्थाओं ने देश को एक नये रंग आंदोलन से जोड़ा। इस आंदोलन के चलते अलका जी, सत्यदेव दुबे, श्यामानन्द जालान, सत्यव्रत सिन्हा, ओम शिवपुरी, ब्रजमोहन शाह, लक्ष्मीनारायण लाल, हबीब तनवीर, आर.जी. आनंद, संई परांजपे, कुदसिया जैदी, रजिन्दर नाथ ने योगदान दिया।

मध्यप्रदेश को ही उदाहरण के रूप में लें तो यहाँ रंगमंच में सक्रियता भी है और गंभीरता भी। कई संस्थायें सामने आई हैं जिन्होंने रंगमंच को नये आयाम दिये हैं। नाटक लिखे जा रहे हैं, नाट्य रूपांतरण हो रहे हैं और नाटक तैयारी के साथ रंगमंच पर खेले भी जा रहे हैं। मध्य प्रदेश में तो नाट्य समारोहों के जरिये एक नया वातावरण निर्मित हुआ है। रंगकर्मियों की गंभीरता ने छुट-पुट तरीके से हो रहे रंगकर्म के बजाय नियमित रंगकर्म का सपना संजोया है। इस रंगकर्म में पारम्परिक और लोक शैलियों के अभूतपूर्व मिश्रण से एक नया राग, एक नया सौन्दर्यबोध और एक नयी अर्थवत्ता और रंग चेतना के दर्शन होते हैं। नाट्य प्रस्तुतियों में अभिनय, संगीत, नृत्य, वेषभूषा, कार्य-कलाप का दुर्लभ संगम दिखाई पड़ता है। म.प्र. में कई रंग संस्थायें काम कर रही हैं जिनमें प्रमुख हैं विवेचना जबलपुर, नट बुन्देले, प्रयोग, रंग आधार, शैडो, कारबाँ, रंगशीर्ष, संभावना, त्रिकर्षि भोपाल रंग समूह उज्जैन, अवंतिका रायपुर, इप्टा अम्बिकापुर, अभिनव रंगमंडल उज्जैन, नट निमाड़ खंडवा आदि। इन और इन जैसी अनेक संस्थाओं ने मध्य प्रदेश में एक नये रंग आंदोलन को खड़ा किया है। पूर्व में यह कहा जाता रहा है कि रंगमंच को हमेशा राज्याश्रय प्राप्त होता रहा है। अब ऐसे रंग समूह सामने आये हैं जिन्होंने अपने खून पसीने के बल पर संस्कृति और रंग के क्षेत्र में सार्थक हस्तक्षेप किया है।

रंगमंच के क्षेत्र में हमेशा विवाद रहा है। नाट्य-शास्त्र के रचयिता भरत भी इससे अछूते नहीं रहे। इसकी केन्द्रीयता को लेकर भी व्यापक विचार-विमर्श हो रहा है। कहीं नाटककार प्रमुख है, कहीं निर्देशक और कहीं रंग समूह और कहीं प्रेक्षक। ब्रेडर मैथ्यूज मानते हैं कि नाटक को समस्त जन समुदाय को प्रसन्न करना होता है क्योंकि उसकी शक्ति उसकी व्यापक प्रभावशीलता में ही है। उसका प्रयोजन ही निष्फल हो जाता है यदि उसमें सबके लिए कुछ न हो। दूसरे साहित्य रूपों की अपेक्षा नाटक में सामुदायिकता का तत्व अधिक सुरक्षित है, वह तत्व जो सारे आदिम काव्य का सार रहा है। सब कलाओं में नाटक अधिक लोकतंत्रात्मक है क्योंकि जन समूह के बिना उसका अस्तित्व ही नहीं हो सकता है।

'नाटक और रंगमंच की सच्ची उपलब्धि दर्शकों को रिझाने में नहीं बल्कि रिझाते हुये उसे जागृत करने में होती है। यह जगाना कई तरह का होता है- वैचारिक, भावित और संवेदना से भरा।'

हमारा समूचा जीवन अपने आप में एक नाटक है। हम अपनी ज़िंदगी में तमाम अभिनय करते हैं। यह अभिनय भी एक सा नहीं होता, बल्कि उसमें विविधता होती है। जैसे हमारे जीवन में तरह-तरह के घटनाक्रम आते रहते हैं। नाटक और रंगमंच में हम जिंदगी के विविध आयामों को नये सिरे से क्रियेट (रचते) करते हैं। इस क्रियेशन में हमसे बड़ी जिम्मेदारी संवेदनशीलता और क्षमता की होती है। नेमिचन्द्र जैन लिखते हैं कि सार्थक नाटक एक साथ ही कई स्तरों पर विभिन्न रुचियों और संस्कारों वाले दर्शक वर्ग को सम्प्रेषित होता है। सामान्यतः नाटक का आवेदन न तो दर्शकवर्ग के सभी विकसित अंश के लिये अभिप्रेत है और न सबसे निचले पिछड़े हुये अंश के लिये। पर चूंकि एक तो इन दोनों अंशों में व्यवधान अगम्य नहीं होता और दूसरे नाटक दोनों के बौद्धिक औसत के कहीं बीच में अभिव्यक्त होता है तथा तीसरे उसमें एक साथ ही कई स्तरों पर जीवन के यथार्थ का उद्घाटन होता है- इसलिये वह सम्पूर्ण दर्शक वर्ग को स्पर्श करता है और उसे भाव विचलित करता है।''

नाटक और रंगमंच की सच्ची उपलब्धि दर्शकों को रिझाने में नहीं बल्कि रिझाते हुये उसे जागृत करने में होती है। यह जगाना कई तरह का होता है- वैचारिक, भावित और संवेदित करना। ब्रेख्त का रंगदर्शन प्रेक्षक को लगातार बांधे रखने का नहीं है। इसलिये वहां बार-बार टूट होती है। इस टूटन में ही एक नया जोड़ पैदा होता है। रंगमंच और प्रेक्षक के बीच इन्वाल्वमेंट होना चाहिए यही उसकी सार्थकता है। रंगमंच इस रूप में एक नहीं है, बल्कि वह आपको लगातार सचेत और चौकस रखने का एक उपक्रम भी है। इब्राहिम अलका जी ने कहा था कि रंगमंच इस रूप में एक उपक्रम भी है। इब्राहिम अलका जी ने कहा था कि रंगमंच अनुभव करने, सोचने, विचारने तथा जीवन के यथार्थ और सम्भावनाओं की तलाश करने का अवसर प्रदान करता है। इसी अर्थ में रंगमंच और नाटक सबसे बड़ी जन कला है।

मैं मानता हूँ कि जैसे रंगमंच होगा या उसकी रंगमंचीय संभावना होगी उसी तरह के नाटक भी लिखे जायेंगे। भारतेन्दु जी ने 'अन्धेर नगरी' जैसे नाटक उसी स्थिति में लिखे। वैदिकी हिंसा, हिंसा, हिंसा, न भवति उनका एक उल्लेखनीय नाटक है। प्रसादजी के नाटक ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य ग्रहण करते हुए भी मौलिक थे। चन्द्रगुप्त, स्कन्दगुप्त, ध्रुवस्वामिनी, अजातशत्रु, जनमेजय का नागयज्ञ मौलिकता की दृष्टि से अद्वितीय हैं। इन नाटकों ने प्रसाद जी को हिन्दी का महत्वपूर्ण नाटककार बना दिया। उनके बाद के नाटककारों में उदयशंकर भट्ट का अंबा, सागर, विजय, मत्स्यगंधा

और विश्वामित्र, हरिकृष्ण प्रेमी का रक्षाबंधन, आहुति, वृंदावनलाल वर्मा का जहाँदारशाह, सेठ गोविंद दास का शशिगुप्त, लक्ष्मीनारायण मिश्र का सिन्दूर की होली, बेचन शर्मा उग्र का डिक्टेटर आदि प्रमुख है। रामकुमार वर्मा के पृथ्वीराज की आँखें, रेशमी टाई और औरंगजेब की आखिरी रात ने शोहरत हासिल की। हिन्दी के जिन नाटककारों ने हमारा ध्यान आकृष्ट किया उनमें प्रमुख हैं- भुवनेश्वर। शिल्प और संरचना की दृष्टि से उनके नाटकों में कारवाँ, ऊसर, ताँबे के कीड़े, स्ट्राइक, आजादी की नींव जैसे नाटक जब भी मंच पर प्रस्तुत हुए, प्रभावी रहे। छठे दशक के मध्य में हिन्दी रंगमंच का विकास नए ढंग से हुआ। इस दौर में उपेन्द्रनाथ अश्क, जगदीश चंद्र माथुर, धर्मवीर भारती, लक्ष्मीनारायण लाल, विष्णु प्रभाकर आदि महत्वपूर्ण नाटककार हुए। मोहन राकेश की शख्सियत इस मायने में भिन्न है कि उनके नाटकों में नाटकीयता समकालीन प्रासंगिकता, सार्थक विषयवस्तु, सधा हुआ शिल्प और बड़ी एकाग्र नाट्य भाषा के महत्वपूर्ण तत्व हैं। आधे-अधूरे, आषाढ़ का एक दिन, बहुत बड़ा सवाल में नाटकीय और रंगमंचीय संभावनाओं के अनेक स्तर विद्यमान हैं। संवेदना और शिल्प का अनूठापन उनके नाट्य कौशल को मूर्त करता है। विपिन कुमार अग्रवाल का तीन अपाहिज, सोए हुए आदमी की खोज, सुरेंद्र वर्मा के नाटक, मणि मधुकर का रसगंधर्व, सलवटों में संवाद, अंधी आँखों का आकाश, सर्वेश्वर दयाल सक्सेना का बकरी, रमेश बक्षी का देवयानी का कहना है जैसे नाटक हैं जिनसे नाटक के क्षेत्र में नई संभावनाओं की आहट मिलती है।

नाट्य लेखन के क्षेत्र में नुक्कड़ नाटकों की शुरुआत से रंगमंच का क्षेत्र ज्यादा चौड़ा हुआ है। देखा जाये तो अनूदित नाटकों के मंचन से शुरू हुई हिन्दी रंगमंच की यात्रा अब मौलिक नाटकों के क्षेत्र में बहुत सक्रिय है। जाहिर है कि आजादी के बाद नाट्य लेखन का क्षेत्र और रंगमंच की दुनिया में व्यापक फेर बदल, विकास और संभावना भी पैदा हुई है। पूरे देश और ज्यादातर प्रदेशों में सरकारी पहल और प्रतिबद्ध रंगकर्मियों और अन्य संभावनाशील कलाकारों के द्वारा रंगमंच की पगडंडियां राजमार्गों में तब्दील हुई है। नाट्य लेखन, रंगकर्म और रंग समीक्षा इन सबका बहुत तेजी से विकास हुआ है। यही नहीं, रंगमंच की सक्रियता ने दर्शकों के मन में एक नई चेतना जगाई है। रंगमंच के क्षेत्र में एक लम्बे अरसे तक बैठी हुई चिप्पी ने एक नई प्रखरता और वाग्विदग्धता प्राप्त की है। हालांकि रंगमंच का विकास अन्य कला माध्यमों की तुलना में अभी भी कम है। नाट्य लेखन के क्षेत्र में भी सक्रियता बरकरार है। अब लेखक नाट्य लेखन की ओर मुड़े हैं। इससे ऐसा जरूर लगता है कि यह क्षेत्र सभी ओर से खुलेगा।

संचार माध्यमों के तीव्र विकास से रंगमंच की दुनिया के सामने जो खतरा पैदा हुआ था वह शनैः - शनैः कम होता जा रहा है। पेशेवर रंगमंच के स्थान पर गैर पेशेवर रंगमंच मात्र रंगमंच के लिये नहीं है उसकी सामाजिक संलग्नता से उसे संवेदनशीलता और विश्वसनीयता प्रदान की है, लेकिन सवाल अभी भी पीछा कर रहे हैं, जिनसे रंगकर्मियों को निरंतर टकराना पड़ेगा।

विजय रोहतगी

मन के ट्रीटमेंट

यूनान के महान दार्शनिक अरस्तु का नाम तो आपने सुना ही होगा। उन्होंने नाटक के संदर्भ में जो बात कही थी, उसे मैं यहाँ साहित्य के अध्ययन के संदर्भ में बताना चाहूँगा। यूनान में उस समय दो तरह के नाटक खेले जाते थे, ट्रेजिडी (दुःखान्त) और कॉमेडी (सुखांत)। अरस्तु ने ट्रेजिडी नाटकों के सन्दर्भ में चर्चा करते हुए रंगशाला (थिएटर) को अस्पताल का नाम दिया था। अरस्तु का मानना था कि जब दर्शक ट्रेजिडी नाटक देखता है, तो उसे देखते हुए भाव-विभोर हो जाता है। उसे अपना दुःख याद आने लगता है। वह रंगशाला में ही रोने लगता है। कई फिल्मों में आपने भी अपने आसपास के लोगों को सिसकियां भरते और आँसुओं को रुमाल से पोंछते हुए देखा होगा। ऐसा शायद आपने स्वयं भी किया हो। अरस्तु का कहना था कि इन दृश्यों को देखने से दर्शकों के हृदय का बोझ हल्का हो जाता है। और जब वे थिएटर से बाहर निकलते हैं, तो आनंद से भरे हुए होते हैं। इस प्रकार रंगशाला में जाने से उनके अंतर्मन का उपचार हो जाता है। उनके अंदर से दुःख, करुणा, क्रोध तथा वीभत्स जैसी भावनाएँ आंसुओं के साथ बाहर आ जाती हैं। इस प्रक्रिया को अरस्तु ने 'काँटे से काँटा निकालने' का नाम दिया था। यदि आपके शरीर में काँटा चुभ जाता है, तो जिस प्रकार उसे निकालने के लिए एक अन्य कांटे की जरूरत पड़ती है, ठीक उसी प्रकार हमारे अंदर के दुःख की भावनाओं को निकालने के लिए दुःखद नाटकों की आवश्यकता होती है। क्या आप इस आधार पर यह अनुमान लगा सकते हैं कि किसी दुःखी व्यक्ति को क्यों दुःखी करने वाले गाने ही पसंद आते हैं? इस सिद्धांत को खुद पर लागू करके देखिए और जानने की कोशिश कीजिए कि यह कितना सही या कितना गलता है? दोस्तों, यही है कला, साहित्य और संस्कृति की ताकत। आज अधिकांश लोग नाटक देखने जाने को समय की बर्बादी मानते हैं। हाँ, यह बात अलग है कि इसके बदले वे अस्पताल में भर्ती होने को 'स्वास्थ्य लाभ' मानने को मजबूर होना स्वीकार कर लेते हैं। यहाँ मेरा ज़ोर इस बात पर है कि नाटक तथा अन्य कलाएँ हमारा मनोरंजन ही नहीं करतीं, वे हमें केवल संस्कार ही नहीं देतीं, बल्कि हमारा ट्रीटमेंट भी करती हैं। अब यह बात अलग है कि ट्रीटमेंट की यह टेबलेट अलग से दिखाई नहीं देती।

डॉ. विजय अग्रवाल

लोक एक गत्वर यथार्थ का लीला-क्षेत्र है। समय का शिल्पी अपने कुशल हाथों से इस यथार्थ को, और जाहिर है लोक के चेहरे-मोहरे को, गढ़ता-सँवारता है। लेकिन लोक की गढ़न इधर जिस तरह से बदल रही है, उसे देखकर सर्वत्र एक चिंता व्याप्त गयी है कि कालांतर में वह समय की लपटों के बीच हिमखंड की तरह धीरे-धीरे पिघल कर जनसमूहात्मक समाज (मास सोसायटी) में विलीन न हो जाए। कुछ लोग तो यह भी ऐलान कर चुके हैं कि जनसमूहात्मक संस्कृति (मास कल्चर) ही भविष्य की लोक-संस्कृति है। वे इसे एक अपरिहार्य सच्चाई समझ कर उसका सामना करने के लिए तैयार रहने का आग्रह करते हैं।

इस तरह लोक-सम्बंधी चिंताएँ दो भिन्न धरातलों से उठ रही हैं : एक तरफ लोक के प्रति संरक्षणवादी विचार-दृष्टि है, दूसरी ओर समर्पणवाद है। संरक्षणवादी इस लोकसंस्कृति की रक्षा की गुहार लगाते हुए व्याकुल हैं जिसका स्वभाव ही निरंतर बदलाव का है और जो शुद्धता के आग्रह का सदैव तिरस्कार करती है, बाहरी प्रभावों के प्रति वह अत्यंत संवेदनशील होती है और उन्हें ग्रहण कर निरंतर पुनर्नव होती है- सच कहा जाए तो उसकी जीवनी-शक्ति का स्रोत उसकी साभ्यतिक संवेदनशीलता में छिपा है। दूसरी तरफ समर्पणवादी उस लोकसंस्कृति को पूंजी-नियंत्रित और बाजार-केन्द्रित भोगवाद की आंधी में झोंक देना चाहते हैं जो वैयक्तिक सुखमय की बजाय सार्वजनीन आनंदवाद को लक्ष्यीभूत है- जिसका बुनियादी सरोकार लोकमंगल है। वे मान बैठे हैं कि मास-कल्चर का प्रतिरोध सम्भव नहीं रह गया है। इसलिए यदि वह लोक को लील ले तो यह अचरज की बात न होगी।

मास-कल्चर और भविष्य की लोक-संस्कृति

जय प्रकाश

लोक-संस्कृति अब धीरे-धीरे सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सिमटने लगी है। आधुनिकता के धक्के से वह लोकजीवन में अपनी जगह से खिसक गयी है। संस्कृति के रूप-पक्ष का प्रदर्शनकारी कलाओं में इस तरह से मुखर हो उठना मुनासिब नहीं है।

उल्लेखनीय है कि दोनों ही विचार-दृष्टियाँ लोक के लुप्त हो जाने अथवा अश्मीभूत होने का खतरा समान रूप से महसूस करती हैं। यह खतरा बिलकुल ही अवास्तविक नहीं है। हमारे समय में सामाजिक विकास की प्रक्रिया जिस तरह से आगे बढ़ रही है, उसके चलते यह साफ-साफ दिखाई भी दे रहा है कि आधुनिकता के यूरोपीय प्रतिमान सार्वदेशिक प्रसार प्राप्त कर चुके हैं और प्राक्-आधुनिक समाज की पारम्परिक संस्कृति उनकी चपेट में आकर अपनी बुनियादी अस्मिता से वंचित होती चली जा रही है। आधुनिकता के तीव्र प्रक्षेप से

परंपराएँ ध्वस्त होने लगी हैं। अनूठेपन, नवीनता और अनन्यता का ऐसा ज़ोर है कि पुराना, पारंपरिक और मूलगामी अब अप्रासंगिक माना जाने लगा है। संस्कृति के क्षेत्र में विचित्र अफरा-तफरी मची हुई है। पारंपरिक को यदि स्वीकार किया भी जा रहा है तो उसकी जड़ों को काटकर, उसे उसकी ऐतिहासिक सारतत्व से विच्छिन्न कर। मास-कल्चर ने 'फोक' और 'एथनिक' को इसी तरह से अपनाया है- अतीत की छाया से दूर खींचकर, स्मृति-संसार से विलग कर और जलते हुए वर्तमान में उसे आरोपित कर। इतिहास का तिरस्कार मास-कल्चर का मौलिक प्रपंच है। यह परंपरा को भी मनुष्यता के कंधों पर लदा फालतू असबाब मानती है। ऐसे में संरक्षणवादी चिंतक लोक-संस्कृति के भविष्य को सशंक भाव से देखते हैं तो यह अस्वाभाविक नहीं लगता। लेकिन संभवतः वे लोक के संश्लेषणशील स्वभाव की अनदेखी कर जाते हैं, उसकी अंदरुनी द्वन्द्वात्मकता की पहचान नहीं करते। लोक को वे नृतत्वशास्त्रियों की-सी प्रत्ययबद्ध दृष्टि से देखते हैं, प्रायः एक स्थिर संरचना के रूप में। दूसरे शब्दों में कहें तो वे लोक के सहज रूपांतरशील चरित्र पर भरोसा नहीं करते। लोक की मुक्त ग्रहणशीलता को भी वे भूल बैठते हैं, संस्कृति-मात्र के संकर आचरण को संदेह से देखते हैं। लोक के प्रति यह अजीब किस्म का शास्त्रवादी रवैया है। इसके पीछे कमोबेश एक किस्म का पौर्वात्यवादी नजरिया भी जाने-अनजाने सक्रिय है जो लोक को सामाजिक दृष्टि से हीनतर कोटि की संरचना मानता है और उसकी पारंपरिकता को सहेजते हुए लोक समुदाय को समाज की मुख्य विकास-धारा में लाने की वकालत करता है। यह दुमुँहे किस्म का रवैया है। इसकी विडम्बना यह है कि यह एक तरफ लोक-संस्कृति के संरक्षण की दुहाई देता है और दूसरी तरफ अपने को विकास और आधुनिकता का विरोधी भी नहीं कहलाना चाहता। वह लोक के उद्धार का स्वप्न देखता है, उसे रूपांतरित किये बगैर। वह विचित्र परम्परावाद है।

इस परम्परावाद के बरअक्स आधुनिकोत्तर दृष्टि है जो मास-कल्चर के आगे लोक के घुटने टेक देने की विवशता को स्वीकार करने की हिमायत करती है। यह लोक की मुक्त ग्रहणशीलता पर अति विश्वास प्रकट कर उसे मुक्त स्वीकृति देने वाली विचार-दृष्टि है। दरअसल यह लोक की 'संस्कृति' को ही रद्द करती है और उस पर जनसमूहात्मक संस्कृति (मास कल्चर) को स्थापित करती है। यह संस्कृति के वर्ग-चरित्र की अनदेखी करती है, अभिजात और अनभिजात के सांस्कृतिक भेद को मिटा देने का दावा करती है, प्रकारांतर से वह वर्चस्व की संस्कृति के बरअक्स वंचित जनों की संस्कृति के अस्तित्व से इंकार करती है। यूं कहें कि वह सत्तासीन वर्ग के सांस्कृतिक उच्छिष्ट को लोक-संस्कृति के विकल्प के रूप में पेश करती है। वह संस्कृति के अपरिहार्य वैश्वीकरण की हिमायत करती है। उसकी निगाह में लोक-संस्कृति निरीह है, और आधुनिकता के अंधड़ का मुकाबला करने में अक्षम, इसलिए आत्म-समर्पण के लिए विवश है। इस समर्पणवाद के पीछे भी दिलचस्प है कि ओरिएंटलिस्टों की-सी श्रेष्ठता-ग्रंथि और साम्राज्यवादियों का-सा दम्भ भी कमोबेश सक्रिय है।

चाहे संरक्षणवाद की विचारधारा हो या समर्पणवाद का नजरिया, लोक-संस्कृति के प्रति असंलग्नता का भाव उनमें समान रूप से कार्य कर रहा होता है। दोनों ही लोक की जिजीविषा को नकारते हैं, उसके रूपांतर और परिवर्तन की प्रक्रिया की तार्किक व्याख्या से बचते हैं, उसका कोई नया मॉडेल विकसित किये जाने की सम्भावना से कतराते हैं। दोनों ही लोक को प्रायः जड़ और गतिहीन प्रत्यय मानते हैं। दोनों की चिंताएं पिछली सहानुभूति या दया-भाव से प्रेरित हैं। उनकी नई लोक मानों जीने की जगह न होकर विमर्श और व्याख्या के लिए बना बौद्धिक क्रीड़ा स्थल हो। लेकिन इन लोकानुकूल विचारों के आत्म-विलाप से दूर स्वयं लोक है जो अपनी चिंता नहीं करता, बस वह समय को जीता है, समय को

संस्कृति के क्षेत्र में विचित्र अफरा-तफरी मची हुई है। पारंपरिक को यदि स्वीकार किया भी जा रहा है तो उसकी जड़ों को काटकर, उसे उसकी ऐतिहासिक सारतत्व से विच्छिन्न कर। मास-कल्चर ने 'फोक' और 'एथनिक' को इसी तरह से अपनाया है- अतीत की छाया से दूर खींचकर, स्मृति-संसार से विलग कर और जलते हुए वर्तमान में उसे आरोपित कर।

प्रवीण दीक्षित

प्रवीण दीक्षित

जीतने के दुस्साहसिक अभियान में निकली आधुनिक संस्कृति की त्वरित सफलताओं के विपरीत लोक-संस्कृति का पराक्रम समय को जीने में निहित है- एक आदिम लगाव और गहरी रागात्मकता के साथ उसे सिरजने के सहज उपक्रम में। प्रकृति के साथ मनुष्य की अंतर्क्रिया और सामाजिक सम्बंधों के बीच उसकी उपस्थिति से अपने द्वन्द्व में लोक-संस्कृति निर्मित हुई है। मनुष्य की इतिहास-यात्रा यदि उसके जीवन को धीरे-धीरे सुविधापूर्ण अथवा उसके श्रम-भार को हलका करने वाली प्रौद्योगिकी के विकास के साथ-साथ अग्रसर हुई है और इसी प्रक्रिया में सभ्यता की उन्नति हुई है तो मानना होगा कि उच्च प्रौद्योगिकी के युग में उसकी गति स्वयं प्रौद्योगिकी की पकड़ से बाहर हो गयी है। मनुष्य श्रम-भार से मुक्त होने लगा है। स्वयं मानवीय श्रम इतिहास से मुक्त होने की प्रक्रिया में हैं। यह एक बड़ी विडम्बना है। लोक-संस्कृति के साथ द्वन्द्व की नई अवस्था में संक्रमित हो गयी है। यहीं से उसका कथित संकट प्रारंभ होता है। प्राक्-आधुनिक समाज में लोक-संस्कृति का द्वन्द्व मुख्यतः अभिजातवर्गीय शास्त्रवाद से था, आज उसकी टकराहट प्रौद्योगिकी, पूँजी और बाजार की शक्तियों से लैस आधुनिक अथवा आधुनिकोत्तर संस्कृति से है।

समाज एक तरफ लोक-संस्कृति के संरक्षण की दुहाई देता है और दूसरी तरफ अपने को विकास और आधुनिकता का विरोधी भी नहीं कहलाना चाहता। वह लोक के उद्धार का स्वप्न देखता है, उसे रूपांतरित किये बगैर। यह वह विचित्र परम्परावाद है।

आधुनिकोत्तर संस्कृति ने बड़े पैमाने पर सांस्कृतिक घाल-मेल पैदा कर दिया है। संस्कृति के पूर्व-प्रचलित मानकों और मूल्यों को उसने निरर्थक करार दिया है। उसने ज्ञानोदय की आधुनिकता और उससे प्रेरित सांस्कृतिक संरचनाओं को भी रद्द कर दिया है, लोक-संस्कृति और शास्त्रवादी संस्कृति को तो पहले ही उसने हाशिये पर डाल दिया है। नई प्रौद्योगिकी आधुनिकोत्तर संस्कृति, जिसे उत्तर-औद्योगिक या हाइटैक संस्कृति कहना भी कुछ लोग पसंद करते हैं और कुछ लोग संस्कृतिहीनता को सामाजिक अवस्था तक कह देना चाहते हैं, की नई सामाजिकता को परम्परानिष्ठ समाज के ऊपर झोंक देना चाहती है। इसके चलते परिवार, जाति, समुदाय और अन्य इकाइयों में विन्यस्त सामाजिक संस्थाएँ और उनमें निहित मूल्यबोध छिन्न-भिन्न होने की स्थिति में आ चुके हैं। गाँव और शहर का फर्क धीरे-धीरे मिटता जा रहा है। सामुदायिकता के नये रूप निर्मित होने को हैं, वह केवल पारिवारिक, जातिगत या आवास-स्थलीय सामाजिक सम्बंधों पर निर्भर नहीं रह गयी है, उसका-प्रसार सम्बंध निर्मित करने की सुविधा दे दी है। अब यह भी सम्भव है कि चार कदम की दूरी पर रहने वाले पड़ोसी से आप अनजान हों, लेकिन चार हजार मील दूर बैठे व्यक्ति से रोज रु-ब-रु होते हैं। व्यवहारवाद और व्यक्तिवाद ने सामुदायिकता की नई अवधारणा पैदा कर दी है।

यह स्पष्ट है कि हमारे- जैसे समाज में जो प्राक्-आधुनिक अवस्था में ही खासा बहुलवादी रहा है और वहां लोक-संस्कृति भी अपनी बहुरूपता के लिए ख्यात रही है, आधुनिकता का हस्तक्षेप अत्यंत निर्णायक और प्रायः संक्रामक ढंग से हुआ है। वास्तव में आधुनिकता, उच्चतर तकनीकी के विकास और उससे प्रेरित नये मूल्यों, संस्थाओं, अवधारणाओं के रूप में हमारे यहाँ आई। तकनीकी ने निश्चय ही मानव-चेतना को बदल दिया। यह कार्य सदियों से होता आया है किन्तु समाज की आधुनिक अवस्था में तकनीकी के अपेक्षतया तीव्र विकास के चलते परिवेश और चेतना में तेजी से बदलाव देखा गया : यह आकस्मिक न था कि भाप से चलने वाले इंजिन का अविष्कार तथा फ्रांस की लोकतांत्रिक क्रांति लगभग समकालिक घटनाएँ थीं जो तकनीकी मूल्यों के अपरिहार्य सह-संबंध को दर्शाती हैं। समता, स्वतंत्रता और बंधुत्व औद्योगिक समाज के नये मूल्य थे, जिनका विकास तकनीकी रूप से पिछड़े सामंती समाज में सम्भव न था। आधुनिकता, उसके मूल्य-तंत्र तथा उसे जन्म देने वाली तकनीकी ने उन्नीसवीं सदी के भारतीय समाज में जब प्रवेश किया तो उसका पहला हमला सहअस्तित्व पर आधारित बहुलवादी चेतना पर हुआ। आधुनिक शिक्षा, विधान तथा सामाजिक संहिता के जरिए राज्य के प्रबल हस्तक्षेप के फलस्वरूप अंग्रेजों के भारत में एक छत्रवादी (मोनोलिथिक) जीवन-शैली को आरोपित किया गया। कानून का शासन लागू होते ही विभिन्न जातियों, सम्प्रदायों, समुदायों की प्रथाएँ और परंपराएँ जो सम्बंधित लोगों के लिए पहले से ही कानून की तरह, सामाजिक नियमन के उपकरण के रूप में मान्य थीं, अवैधानिक हो गयीं। इस तरह भारत के सामाजिक जीवन की आत्मपूर्णता और स्वायत्तता पर आधुनिकता का, जिसका इस्तेमाल साम्राज्यवाद ने अत्यंत नियोजित तरीके से किया, यह आघात उसके मूल्यतंत्र को तोड़ने की दिशा में प्रारम्भिक प्रयास था। आगे चलकर ऐसे साम्राज्यवाद के इन प्रयासों में उसके विश्वास के बीज भी छिपे थे। उन्नीसवीं सदी के अंत तक अंग्रेजी-शिक्षित बुद्धिजीवियों के उद्यम से जनजागरण आकार ले चुका था और उसका साम्राज्यविरोधी तेवर भी झलकने लगा था जो बीसवीं सदी में एक विराट स्वतंत्रता आंदोलन बन कर चरितार्थ हुआ। भारतीय आधुनिकता को अब देशी ढंग से विकसित करने की जिम्मेदारी स्वतंत्रता आंदोलन के कंधों पर आ गयी। आधुनिकता से

बचना अब सम्भव न था लेकिन नवजागरण के चिंतकों ने समझ लिया था कि परम्परा से बचना भी उचित न होगा। महात्मा गांधी के चिंतन में परम्परा और आधुनिकता का संतुलन अपने उत्कृष्ट रूप में प्रतिफलित दिखाई देता है। आधुनिक राष्ट्र-राज्य के हिंसा उद्वेग को वे सहिष्णुता, समन्वय और अहिंसा के पारम्परिक मूल्य बोध से प्रशमित कर देना चाहते थे।

जाहिर है, आधुनिकता का प्रवेश हमारे समाज में अत्यंत निर्णायक और हस्तक्षेपकारी ढंग से हुआ। उसे एक ऐसे प्रपंच के रूप में देखा गया जिसने हमारे मनोजगत को द्विधाग्रस्त और संशयाकुल कर दिया। हम परम्परा से उन्मूलित होते हुए क्रमशः एक आत्मविमूढ़ समाज में तब्दील हो चुके हैं जिसकी लगाम किसी और के हाथ में है, जो किसी और के इशारे पर एक खास दिशा में बढ़ा जा रहा है।

इस प्रपंच से निपटने के लिए तथा लोक की अस्मिता को यथासम्भव बचाए रखने के लिए एक ऐसे सामाजिक नियोजन की जरूरत होगी जो परम्परा-बोध और आधुनिकीकरण, दोनों को चयनशील और संकुल दृष्टि से देख सके। इसके लिए राज्य और समाज को भी दायित्वपूर्ण ढंग से अपनी भूमिका सुनिश्चित करनी होगी और उस नैतिक विवेक को सक्रिय करना होगा जो सदैव समाज की मूलगामी चिंताओं के केन्द्र में रहा है। यह नैतिक विवेक लोकमंगलकारी संस्कृति का प्राण-तत्व है। इसके छीजने से लोक स्वयं अपघटित होने लगेगा, लोक जीवन के मूल्य बिखर जायेंगे और उसकी अंतरात्मा बिला जायेगी। इससे उपजे शून्य को सिर्फ मास-कल्चर के भोगवादी मूल्यों से भरा जा सकेगा। तब लोक का सिर्फ रूप-तत्व रह जायेगा- सिफर उसका ऊपरी ढाँचा, वह ऊपर से रंगारंग दिखाई देगा किन्तु आंतरिक स्पंदन के अभाव में जाहिर है, यह निर्जीव होगा। लोक की ऐसी निर्गुण प्रतिमा भला किन मानवीय मूल्यों को साकार कर सकेगी?

परिवर्तन और स्वांगीकरण लोक-संस्कृति की सहजवृत्ति में शामिल हैं, इसलिए उसके लुप्त होने की आशंकाएँ नितांत काल्पनिक जान पड़ती हैं- किन्तु समाज पर राज्यसत्ता और तकनीकी अतिसत्ता का नियंत्रण जैसे-जैसे बढ़ रहा है, लोक के मूल्य विघटित हो रहे हैं, उसका नैतिक संसार ध्वस्त होने लगा है और वह एक अभूतपूर्व विरुपण की चपेट में है। ऐसे में लोक का भविष्य में कैसा स्वरूप होगा, उसका नया मॉडेल किसी तरह से विकसित हो सकेगा- इसकी कल्पना बहुत कठिन हो रही है। लोक-संस्कृति की सैद्धांतिकी का यह सबसे बड़ा संकट है।

अब तक लोक को लेकर हुए अधिकतर विमर्शों के साथ एक कठिनाई यह भी देखने में आती है कि वे अब लोक के रूप पक्ष पर एकाग्र हैं। समाजशास्त्रियों-नृतत्वशास्त्रियों ने कुछ तयशुदा अवधारणाओं और अक्सर पूर्वग्रहों के सहारे लोक को लगभग परीक्षण की वस्तु मानकर उस पर विचार किया। साहित्यिकों के लोक-सम्बंधी चिंतन भी उसे रूपगत और सौंदर्यात्मक परिप्रेक्ष्य में जाँचने-समझने का प्रयास अधिक दिखाई देता है। पुष्ट इतिहास-बोध और द्वन्द्ववाद के अपेक्षाकृत व्यापक परिप्रेक्ष्य के सहारे लोक की अंतर्वस्तु का विश्लेषण प्रायः नहीं हुआ है। इसलिए लोक की सामान्य छवि जिस ढंग से विकसित हुई और प्रचलन में आई है, वह ज्यादातर उसके रूप-पक्ष पर आधारित है। जाहिर है, यह शिष्ट समाज द्वारा निर्मित छवि है जो लोक की आत्मछवि से निश्चय ही भिन्न है। अपनी छवि को लेकर लोक आत्म-सजग नहीं है, वह तो सहज भाव से उसे जीने के कर्म में जुटा होता है, इसलिए उसकी कर्मशीलता में उसकी अंतरात्मा की, उसकी ऐतिहासिक अंतर्वस्तु की मुखर अभिव्यक्ति सम्भव होती है, जिसे शिष्ट समाज, अक्सर पहचान नहीं पाता। इस पहचान के अभाव में वह उसके रूप-पक्ष में उलझ जाता है और उसे ही लोक की समग्र अभिव्यक्ति मान बैठता है। लोक-विमर्श के आधुनिक शास्त्र इसी वजह से आधे-अधूरे हैं। लोक की अंतर्वस्तु के प्रति इस रवैये के कारण शिक्षित मध्यवर्ग अपने सामाजिक जीवन में लोक-प्रथाओं और संस्कारों का पालन निहायत ही यांत्रिक ढंग से और प्रायः रस्मी तरीके से करता है जबकि अपढ़ लोक-जन अपनी संवेदनात्मक संलग्नता के साथ।

प्रवीण दीक्षित

लोक के मूल्य विघटित हो रहे हैं, उसका नैतिक संसार ध्वस्त होने लगा है और वह एक अभूतपूर्व विरूपण की चपेट में है। ऐसे में लोक का भविष्य में कैसा स्वरूप होगा, उसका नया मॉडेल किसी तरह से विकसित हो सकेगा- इसकी कल्पना बहुत कठिन हो रही है।

लोक का आत्म-पक्ष, कहने की जरूरत नहीं कि, अब भी अन-पहचाना है। व्याख्या, विमर्श और विरेचन में उसे शामिल ही नहीं किया जा सका है। इसके साथ ही उल्लेखनीय यह भी है कि मध्यवर्गीयकरण हमारी सम्पूर्ण सामाजिक गतिशीलता और विकास-प्रक्रिया का प्रमुख लक्ष्य और उत्पाद बन गया है। इस मध्यवर्ग में लोक से दूरी निर्मित करने तथा अधिकाधिक आधुनिक होते जाने की उच्चगामी प्रवृत्ति (अपवर्ड मोबिलिटी) अत्यंत प्रबल है। विडम्बना यह कि वह लोक-परम्पराओं के खंडहर में जीना चाहता है, उन्हें पूरी तरह त्याग नहीं पाता। लोक-स्मृतियों से वंचित होकर भी वह उसके रूपगत ढांचे को चिपटाए रहता है, लोक-प्रथाओं और पर्व-त्यौहारों का रूपात्मक ढांचा ही अब मध्यवर्गीय जीवन में अवशिष्ट रह गया है।

रूप-पक्ष की अवशिष्ट उपस्थिति और ऐतिहासिक सारतत्व के लगभग गायब हो जाने के कारण ही लोक-संस्कृति अब धीरे-धीरे सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सिमटने लगी है। आधुनिकता के धक्के से वह लोकजीवन में अपनी जगह से खिसक गयी है। संस्कृति के रूप-पक्ष का प्रदर्शनकारी कलाओं में इस तरह से मुखर हो उठना मुनासिब नहीं है। क्या वजह है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद हमारे देश में आधुनिकीकरण की प्रक्रिया के साथ लोक एवं पारम्परिक कलाओं के प्रदर्शन की आवृत्तियाँ अधिकाधिक बढ़ी हैं लेकिन स्वयं लोकजीवन में उनकी जीवंत उपस्थिति क्रमशः क्षीण होती गयी है? क्या इसकी वजह यह नहीं है कि लोक की अंतर्वस्तु भी इस प्रक्रिया में गौण हुई है और लोक को आधुनिक संस्कृति के साथ समंजित करने के प्रयत्न में उसके बाह्य-रूपों का लगातार इस्तेमाल हुआ है। अब तो स्थिति यह हो चली है कि ग्रामीण समाज, जो लोक का मूल स्थान है, में सांस्कृतिक प्रदर्शन बहुतायत से होते हैं किन्तु इन प्रदर्शनों का सरोकार विशुद्ध मनोरंजन होने के कारण उसके इर्द-गिर्द एक किस्म का व्यवसायवाद पनपने लगा है। मास-कल्चर का असर इन सांस्कृतिक प्रदर्शनों में देखा जा सकता है। सच्चाई यह है कि लोकसंस्कृति सांस्कृतिक आयोजनों में कितनी ही क्यों न खिले, सांस्कृतिक जीवन से रस लेकर ही वह फल-फूल सकती है। उसकी सही जगह आयोजन नहीं, जीवन है।

लेकिन जीवन में लोक-संस्कृति को जस-का-तस लौटाया नहीं जा सकता। जीवन के कैनवास पर अब उसका रंग पहले की तरह प्रगाढ़ नहीं रह गया है, यह सच्चाई है। लेकिन सचाई यह भी है कि बदले हुए रूप में भी वह जीवंत है, निस्पंद नहीं हुई है। बदलना उसका स्वभाव है। अब आधुनिकता का रंग उस पर चढ़ेगा लेकिन उसकी जिजीविषा पर कोई फर्क नहीं पड़ने वाला है। आधुनिकता उसे तोड़ेगी और संवारने का जतन भी करेगी। उसकी संवेदनशील काया से झर कर जो कुछ टूटेगा, उसे सहेजने की चेष्टा भी यह आधुनिकता ही करेगी। लोक-संस्कृति के जो रूप क्षीण हो गये हैं या लुप्त होने को हैं, उनकी अभिरक्षा के अनेकानेक तकनीकी उपाय विकसित किये जा चुके हैं। अभिलेखन, ध्वन्यांकन, दृश्यांकन, फिल्म-रचना से लेकर कम्प्यूटर तकनीकी के जरिए उनकी स्मृतियों को संजो कर रखा जा सकता है। निस्संदेह सांस्कृतिक प्रदर्शन उन्हें जीवित रखने में कुछ समय तक और मदद दे सकते हैं लेकिन वास्तविक जीवन में यदि लुप्त होने से उन्हें बचाया न जा सके तो सिर्फ स्मृति-रूप में उन्हें सहेजा जा सकता है।

लेकिन जीवन में लोक-संस्कृति को जस-का-तस लौटाया नहीं जा सकता। जीवन के कैनवास पर अब उसका रंग पहले की तरह प्रगाढ़ नहीं रह गया है, यह सच्चाई है। लेकिन सचाई यह भी है कि बदले हुए रूप में भी वह जीवंत है, निस्पंद नहीं हुई है।

प्रवीण दीक्षित

यहाँ उदाहरण के रूप में छत्तीसगढ़ी लोकनाट्य 'नाचा' के स्वरूप में आये परिवर्तन को याद किया जा सकता है। यह परिवेश से जीवंत संवाद करने वाली विधा है इसलिए उससे प्रभावित भी जल्दी होती है। सम-सामयिकता और तात्कालिकता उसकी चालक-शक्ति है। लेकिन उसके रुपविन्यास पर समसामयिकता का असर मास-कल्चर के लोकप्रियतावादी मुहावरों में दीखने लगा है। नतीजतन उसकी अंतर्वस्तु भी बेतरह प्रभावित हुई है। प्रबुद्धजन उसमें अश्लीलता की भी शिकायत करते हैं। वे नाचा की पुरानी प्रस्तुतियों को याद करते हैं जब चालीस और पचास के दशक में नाचा कलाकार सामाजिक रुढ़ियों पर प्रहार करने वाले गम्मत (प्रसंग) रचते थे। मगर अब नाचा में सोद्देश्य कथानकों की परम्परा लुप्त नहीं तो कमजोर अवश्य ही हो गयी है। आज भी ऐसे बुजुर्ग कलाकार हैं जो उन दिनों की नाचा प्रस्तुतियों को स्मृतियों में जीवित रखे हुए हैं और कथानक ही नहीं, संवादों को भी वे ज्यों-का-त्यों दुहरा सकते हैं। यदि कोई सजग अध्येता उन्हें अभिलेखित कर सके तो वह अत्यंत उपयोगी काम

होगा। इससे न सिर्फ नाचा के ऐतिहासिक विकास को समझने में मदद मिलेगी। बल्कि उसकी प्रारम्भिक प्रस्तुतियों में नव-जागरण-कालीन प्रेरणा की सक्रिय उपस्थिति की पड़ताल भी सम्भव हो सकेगी।

इसी तरह छत्तीसगढ़ में रास जैसी विधा आज लुप्त होने को है। रासधारियों की कमी तथा आनुष्ठानिक संकल्प के अभाव में इसका प्रदर्शन अब बिरले ही देखने को मिलता है। यदि इन विरल प्रदर्शनी को पाठांतरित अथवा दृश्य-श्रव्य माध्यम में संरक्षित न किया गया तो कुछ ही वर्षों में यह विधा समाप्त हो जायेगी ऐसी अनेक विधाएं हैं जिन्हें संरक्षण की आवश्यकता है।

लोक-सांस्कृतिक रूपों को संरक्षित किया जाना आवश्यक तो है लेकिन सिर्फ इससे लोक-संस्कृति की रक्षा नहीं हो सकती। दरअसल लोक-संस्कृति की रक्षा करना आवश्यक भी नहीं है, उसका सकारात्मक रूपांतरण कहीं ज्यादा महत्वपूर्ण है। लोक-संस्कृति प्रायः आत्मरक्षित होती है। लोक-कलाएँ यदि लुप्त भी हो जाएँ तो लोक-संस्कृति नष्ट नहीं हो जायेगी। वह नये सांस्कृतिक संक्रमण को झेलते हुए स्वयंमेव रूपांतरित होगी तथा नये कला-रुप विकसित कर लेगी। यह अपरिहार्य है। इस प्रक्रिया में सम्भव है, वह तकनीकी और बाजार के साथ एक नया सम्बंध कायम करने में कामयाब हो सकेगी। यह भी सम्भव है कि भविष्य में उसके द्वारा निर्मित नये कला-रूप मास-कल्चर से प्रभावित हों। प्रगति और विकास की शक्तियां जिस ढंग से सक्रिय हैं, उसे देखते हुए लोक के नकारात्मक रुपांतरण का खतरा वास्तविक जान पड़ता है। पूंजी की संक्रामकता ने इतिहास की भौतिक शक्तियों को पूरी तरह नियंत्रण में ले लिया है। अब ये शक्तियाँ पूंजी के विस्तारवादी मंतव्यों से निर्देशित हो रही हैं। ये संस्कृति के अभौतिक मूल्य-संसार को छिन्न-भिन्न कर सभ्यता की पृथक संरचनाओं को जन्म दे रही हैं। सभ्यता को ही ये संस्कृति की तरह पेश करना चाहते हैं। जाहिर है कि बुनियादी समस्या सभ्यता परियोजना को लेकर है। लोक-संस्कृति के सकारात्मक रूपांतरण की चिंता करने वाले विमर्श को अब अनिवार्य रूप से सभ्यता परियोजना की जटिलताओं से जूझना होगा। तात्पर्य यह कि 'सामाजिक नियोजन के समानांतर सांस्कृतिक नियोजन' की एक नई अवधारणा विकसित कर उसे चरितार्थ किये जाने से लोक का अपेक्षाकृत सकारात्मक रूप सम्भव हो सकता है। लेकिन कठिनाई यह है कि आधुनिक राजसत्ता की नीति-संबंधी प्राथमिकताओं में संस्कृति के लिए स्थान ही नहीं है। उसका सम्पूर्ण कार्यकलाप भौतिक उपलब्धियों की दिशा में प्रेरित है। इन उपलब्धियों को ही विकास या प्रगति कहा जाता है। यह कितना त्रासद है कि राजसत्ता ने आधुनिक शिक्षा को भी भौतिक मूल्यों को उत्पादन से जोड़ दिया है जबकि बुनियादी तौर पर शिक्षा समाज में अभौतिक मूल्य तंत्र को विकसित करने के लिए उत्तरदायी होती है। कहना न होगा कि सत्ता को संस्कृति के प्रति संवेदनशील होना चाहिये। लेकिन कला अकादमियों के जरिए सांस्कृतिक प्रदर्शनों के प्रायोजक होने भर से यह संवेदनशीलता प्रकट नहीं होगी। आर्थिक-सामाजिक नीतियों के सांस्कृतिक पाश्चात्य प्रभाव के प्रति संवेदनशील हुए बिना सत्ता समाज के प्रति नैतिक रूप से दायित्वशील नहीं कही जा सकती।

स्पष्ट है कि लोक-संस्कृति के सकारात्मक रुपांतरण का सवाल समाज के आधारभूत ढाँचे से सम्बंधित है। लेकिन वैश्वीकरण के महान अभियान में निकली वित्तीय पूंजी की चपलता और शक्तिमत्ता का सामना करते हुए कोई राजसत्ता उसकी अपेक्षाओं के प्रतिकूल जाकर, समाज के आधारभूत ढाँचे में ऐसी छेड़छाड़ करने का साहस क्या सचमुच दिखा सकेगी, जो संस्कृति के लोक-मंगलकारी स्वभाव को अक्षुण्ण अक्षत बचाये रख सके? यदि उसका उत्तर नकारात्मक है तो लोक की रक्षा या उसके सकारात्मक रुपांतरण के पक्षधर लोगों को पूंजीवाद के उत्तरकालीन प्रपंचों का प्रतिरोध अनिवार्य रूप से करना होगा। अगर प्रतिरोध नहीं होगा तो मास कल्चर को भविष्य की लोक संस्कृति बन जाने से रोक पाना भी सम्भव नहीं होगा।

प्रवीण दीक्षित

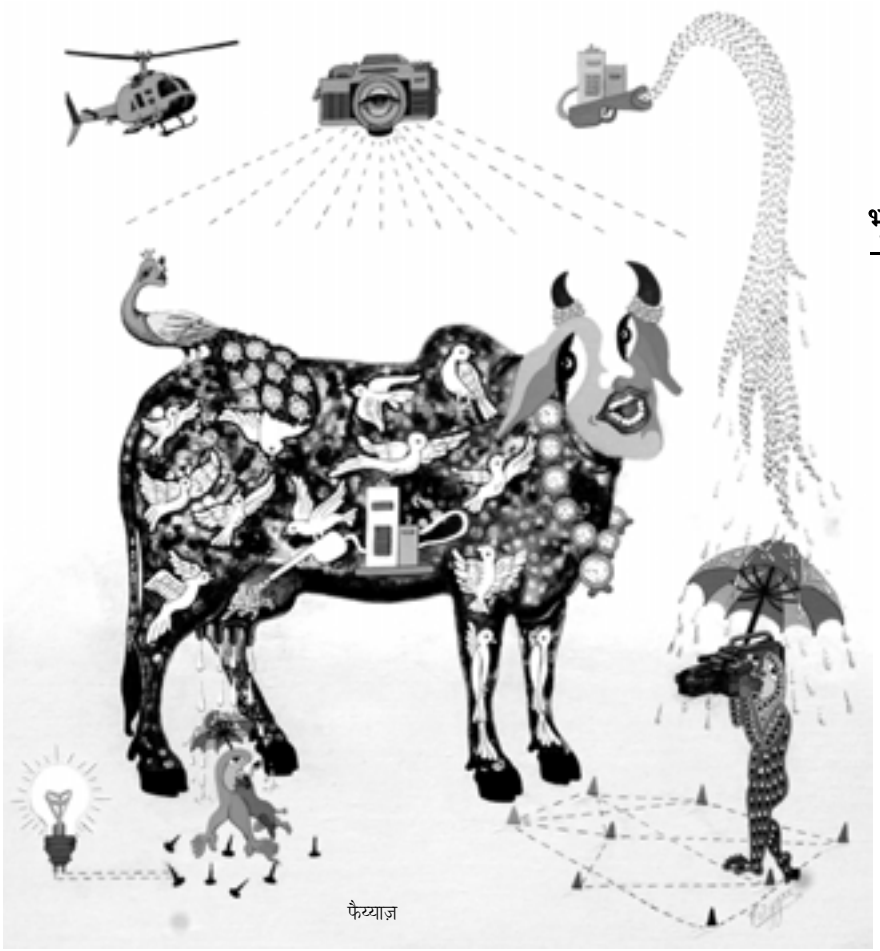

भूमंडलीकरण का भक्ति-गीत

अर्थहीन प्रसन्नता का छल

प्रभु जोशी

ये आठवें दशक के आरंभिक वर्ष थे और इंदिरा गांधी गहरी 'राजनीतिक-शिकस्त' के बाद अपनी ऐतिहासिक विजय की पताकाएँ फहराती हुई फिर से सत्ता में लौटी थी। इस बार वे शहरी मध्यवर्ग के 'धोखादेह' चरित्र को पहचान कर, 'ग्रामीण-भारत' की तरफ मुँह करके, अपने 'राजनीतिक-भविष्य' का नया 'मानचित्र' गढ़ना चाहती थी। इसीलिए, वे बार-बार एक जुमला बोलती थी। 'टेक्नॉलॉजी को गांवों की तरफ पहुँचाने के मंसूबे के साथ ही वे 'डिस्ट्रिक्ट ब्रॉडकास्ट' की बात भी करने लगी थी, जिसका अभिप्राय यह था कि 'जिला-प्रसारण' की शुरुआत से, ग्रामीण भारत को सूचना-सम्पन्न बनाने की सक्रिय और पर्याप्त पहल की जा सकेगी। तब प्रसारण से जुड़े लोग अच्छी तरह जानते थे कि उनके इस कथन के पीछे भारत में भी एफएम रेडियो की शुरुआत करने की मंशा है। तब आकाशवाणी की कार्यशालाओं में प्रशासनिक क्षेत्र और इंजीनियरिंग के उच्चाधिकारी गाहे-ब-गाहे इस बात पर अफसोस प्रकट किया करते थे, कि देखिए, अफ्रीका के नाइजीरिया जैसे पिछड़े हुए मुल्कों में एफएम आ चुके हैं और एक हम हैं कि अब भी उसी पुरानी और लगभग चलन से बाहर हो चुकी टेक्नॉलॉजी से काम चला रहे हैं।'

दरअसल, अफ्रीकी महाद्वीप में सूचना और संचार के क्षेत्र में अपना वर्चस्व बनाने वाले सूचना-सम्राटों के समक्ष, यह अत्यंत स्पष्ट था कि वहाँ की भाषाएँ, इतनी विकसित नहीं हैं कि पहले वहाँ के प्रिंट-मीडिया में घुस कर, उन पर अपना आधिपत्य जमाने की कोशिश की जाए। वहाँ 'प्रिमिटिवकल्चर' और 'सोसायटी' के चलते 'लिखे-छपे' के बजाय बोले जाने वाले माध्यमों के जरिए ही वांछित काम निपटाया जा सकता है, जो नव-औपनिवेशिक एजेंडे के लिए बहुत जरूरी है। अलबत्ता, उनके लिए, अफ्रीकी महाद्वीप में स्थानीय भाषाओं का कम विकसित होना सर्वाधिक सहूलियत की बात थी। चूंकि, वह अर्द्ध-विस्मृत (हॉफ लिविंग ऐंड हॉफ फॉरगॉटन) अवस्था में थी। नतीजतन, वे तो कहा ही करते थे- 'दे आर बॉर्बेरिअन्स विथ डायलैक्ट, वी आर सिविलाइज्ड विथ लैंग्विज'। वे अपनी भावी-रणनीति के तहत अफ्रीकी जनता को सभ्य बनाने के लिए, उनकी भाषाओं का 'रि-लिंग्विफिकेशन' पहले ही शुरू कर चुके थे। लेकिन एफएम के आगमन ने, उनके एजेंडे को तेजी से पूरा करने में, उनके लिए एक अप्रत्याशित सफलता अर्जित कर ली। चूंकि एफएम रेडियो के आते ही उन्होंने फ्रेंच द्वारा अपने प्रचार-प्रसार के लिए अपनाई गई रणनीति की तर्ज पर अघोषित रूप से लगभग 'लैंग्विज-विलेज' यानी भाषा-ग्रामों के निर्माण जैसा काम शुरू कर दिया। इसके अंतर्गत उन्होंने किया यह कि प्रसारण के क्षेत्र में आने वाली आबादी को स्थानीय भाषा में अंग्रेजी की शब्दावली के मिश्रण से तैयार एक ऐसे भाषा रूप का दीवाना बनाना कि वह पूरा प्रसारण, उस आबादी के लिए एक

उधार की चंचला लक्ष्मी से खुल रहे निजी एफएम चैनलों की प्रसारण-सामग्री का आकलन किया जाए तो पाएंगे कि ये केवल मनोरंजन के आधार को मजबूत करती हुई, मसखरी के कारोबार में जुटी टुकड़ियाँ हैं, जिनका मक़सद उस 'पापुलर-कल्चर' के लिए जगह बनाना है, इनका 'विचार' नहीं, 'वाचालता' आधार है।

अरविंद सिंह

'मेनीपुलेटेड प्लेजर' (छलयोजित आनंद) का पर्याय बन जाए। इसके साथ ही उसके अनवरत उपयोग से उस भाषा रूप को यूथ कल्चर यानी युवा संस्कृति का शक्तिशाली प्रतीक बना दिया जाए। इसे 'आनंद द्वारा दमन' की सैद्धांतिकी कहा जाता है। दरअसल, इसमें लोग, अपने समय और समाज के अंतर्विरोधों को ठीक से पहचान पाने की शक्ति ही खो देते हैं और तमाम सामाजिक, आर्थिक और राजनीतिक घटनाओं-परिघटनाओं में आनंद की खोज ही उनका अंतिम अभीष्ट बन जाता है। 'यूथ-कल्चर' के साथ देने के कारण यह अविवेकवाद समाज के भीतर, निर्विघ्न रूप से काम करने लगता है। बौद्धिक रूप से विपन्न बना दिए जाने की यह अचूक युक्ति मानी जाती है।

इन एफएम के कार्यक्रम संचालकों को कहा जाता था कि भूल जाइये कि जनता माध्यम के साथ क्या करती है, बस यह याद रखिए कि माध्यम के जरिए आप जनता के साथ क्या कर सकते हैं। नतीजतन, उन्होंने रेडियो के प्रसारण के जरिए, अर्थवान-प्रसारण देने के बजाय अर्थहीन-प्रसन्नता बाँटने का अंधाधुंध काम बड़े पैमाने पर किया और यह सब उसी समाज का इस्तेमाल करते हुए कुछ ऐसी चतुराई के साथ किया कि एक बार तो उन्हें लगा, उनकी संस्कृति और भाषाओं के आगे अंग्रेज और अंग्रेजी झुक गई है। उसे उन्होंने अपनी विजय माना।

निश्चय ही इसका अभिप्राय यह कि वे एक विराट भ्रम तैयार करने में सफल हो रहे थे। बाद में प्रसारण से वह भाषा रूप जिसे लिंग्विस्टिक-सिन्थेसिस के जरिए तैयार किया गया था और उसे बोलचाल का नैसर्गिक रूप कहा गया था, धीरे-धीरे अंग्रेजी द्वारा विस्थापित कर दिया गया। इसे बाद में स्वाहिली और जूलू के लेखकों ने 'मॉस-डिसेप्शन' कहा। क्योंकि अब अफ्रीकी महाद्वीप के देशों में समाज की 'प्रथम भाषा' अंग्रेजी बना दी गई। उन्होंने कहा कि अश्वेतों ने भाषा नहीं, अपना भाग्यलेख बदल लिया है।

बहरहाल, अब अफ्रीका में वहाँ की भाषाएँ रोजमर्रा का पारस्परिक काम काज निबटाने की ऐसी भाषाएँ भर रह गई हैं, जिनका काम चिंतन के क्षेत्र से हट कर, केवल मनोरंजन और कामकाजी-संपर्क का है। कहने की जरूरत नहीं कि हमारे यहाँ भी दिन-ब-दिन हर छोटे-बड़े महानगर में, आवारा-पूँजी के सहारे खुलते जा रहे इन एफएम से एक ऐसी प्रसारण संस्कृति को जन्म दिया जा रहा है, जो 'यूरो-अमेरिकी एजेंडों' को उसकी पूर्णता तक पहुंचाने के काम को निबटाने में लगी हुई है। इसी के चलते देश का सबसे पहला निजी एफएम प्रसारण मुंबई में 'हिंग्लिश' में शुरू हुआ और बाद में जितने भी एफएम आए यही उनकी भाषा नीति हो गई। वहां अच्छी हिन्दी बोलना अयोग्यता की निशानी है।

अब यह बहुत साफ हो चुका है कि इनका श्रीमती गांधी की उस 'डिस्ट्रिक्ट-ब्रॉडकस्ट' की अवधारणा से कोई लेना-देना नहीं है, जो मूलतः ग्रामीण-भारत के लिए थी और जिसकी प्रतिबद्धता 'विल्बर श्राम' के 'विकासमूलक-प्रसारण' की थी। यह सिर्फ महानगरीय सांस्कृतिक अभिजन की जीवन शैली, रहन-सहन, बोलचाल को समग्र समाज के लिए मानकीकरण करने का काम कर रहे हैं, जिसने यह स्वीकार लिया है कि जल्दी से जल्दी, बस एक ही पीढ़ी के कालखंड में, हम देश से तमाम स्थानीय भाषाओं की विदाई हो।

आप हम साफ-साफ देख-सुन रहे हैं कि जिस तेजी से आर्थिक क्षेत्र में भूमंडलीकरण की शुरुआत की गई, ठीक उसी और उतनी ही तेजी से सामाजिक क्षेत्रों में स्थानीयता और क्षेत्रीयता के प्रश्न अस्मिता की रक्षा के प्रश्न बना दिए गए। मराठी या कन्नड़ में उठे विवादों को इसी परिप्रेक्ष्य में देखना होगा। वे परस्पर नए वैमनस्य में जुत चुकी है। हिन्दी को एक सांप्रदायिक भाषा करार दिया जा रहा है। अलबत्ता, उसे नए ढंग से विखंडित किया जा रहा है। बोलियों को हिन्दी से स्वायत्त करने का अभियान आरंभ है, जिसमें बहुत संकीर्ण राजनीतिक स्वार्थ छिपे हैं। जल्द ही आठ हिन्दी भाषा प्रांतों में जन्मे लोगों से कहा जाएगा कि वे अपनी मातृभाषा- मालवी, निमाड़ी, छत्तीसगढ़ी, हरियाणवी, भोजपुरी आदि लिखवाएँ। संख्या के आधार पर डराने वाले आंकड़ों वाली हिन्दी किसी की भी मातृभाषा नहीं रह जाएगी। यह नया और निस्संदेह एक अंतर्घाती 'देसीवाद' है, जो अंदरूनी स्तर पर अंग्रेजी के लिए एक नितांत निरापद राजमार्ग बनाने का काम करने वाला है।

महानगरों में उधार की चंचला लक्ष्मी से खुल रहे निजी एफएम चैनलों की प्रसारण-सामग्री का आकलन किया जाए तो पाएंगे कि ये केवल मनोरंजन के आधार को मजबूत करती हुई, मसखरी के कारोबार में जुटी टुकड़ियां हैं, जिनका मक़सद उस 'पापुलर-कल्चर' के लिए जगह बनाना है, जो पश्चिम के सांस्कृतिक-उद्योग के फूहड़ अनुकरण से हमारे यहाँ जन्म ले रहा है। इनका 'विचार' नहीं 'वाचालता' आधार है। उन्हें बोलना और बिना रुके बोलते रहना यानी बक-बक चाहिए। वहाँ ये 'फंडे चाहते हैं। यानी डेटिंग के। बॉस को खुश रखने के। सक्सेस के। जी हां, सफलता समाज या समूह की नहीं, केवल व्यक्तिगत-सफलता हासिल करने के लिए मेन्युक्लेशन सीखिए।

इनके लिए स्थानीय संस्कृति और संस्कार से दूरी पैदा करना इनका नया मूल्य है। इनकी वर्गीय समझ क्या है? उन्हें कैसी और कौन सी पीढ़ी गढ़नी है? इनकी प्रसारण-संस्कृति क्या है? इनकी वैचारिकी क्या है? ये किसके प्रति जवाबदेह हैं? इन प्रश्नों के उत्तर खोजे जाएँ तो ये उसी खतरनाक रेडियो कल्चर के भारतीय उदाहरण हैं, जिन्होंने अफ्रीकी महाद्वीप को सामाजिक-सांस्कृतिक रूप से विपन्न बनाने में बहुत कारगर भूमिका निभाई थी।

वास्तव में इन्हें कार्यक्रम प्रस्तुतकर्ता नहीं, बस वाचाल कारिंदे चाहिए, जो हर चीज़ को मस्ती, मौज या फन बना दे या फिर उसे कामुकता से जोड़ दे। एक कमजोर बौद्धिक आधार के बावले समाज का 'आनंदवादी हथियारों द्वारा सफल दमन' कार्यक्रम चल रहा है। फासीवादी दौर में जर्मन समाज के पतन की पृष्ठभूमि में, तब रेडियो ने यही किया था जो आज ये कर रहे हैं। अपने प्रसारण से ये एक ऐसा 'सांस्कृतिक उत्पाद' बनाते हैं, जो देशकाल से परे रहता हुआ, केवल 'उपभोक्तान्मुख' हो और उसका कोई अन्य मूल्य न हो। रेडियो जॉकी की सबसे बड़ी योग्यता है कि वह हर बात को कितनी लंपटई के साथ कामुकता से जोड़ सकने में पारंगत है? बाहर की लंपटई एफएम प्रसारण में 'बिंदास', 'बैलौस' और 'बोल्ड' है।

अंत में कहना यही है कि, जिस उदारवाद की अगुवाई के लिए आनन-फानन में बगैर कोई आचारसंहिता के निर्धारण किये निजी एफ.एम. के लिये जो प्रसारण क्षेत्र में जगह बनाई गई, वह सत्ता की नियमहीनता का लाभ लेकर एक किस्म की सांस्कृतिक अराजकता के खतरनाक खेल में बदल गई है। क्योंकि उसके सामने प्रतिबद्धता या जबावदेही का कोई प्रश्न ही नहीं है। यह लोक-प्रसारण नहीं है। न उसे लोक की चिंता है, न शास्त्र की। लोक-नियंत्रण के अभाव में वे उग्र और उद्दंड हो गए हैं। एक निजी मनमानापन ही प्रसारण का विषय-वस्तु है। और अब दुर्भाग्यवश इन्हीं का विकृत अनुकरण करने में आकाशवाणी को भी दरिद्र समझ के नौकरशाही द्वारा जोत दिया गया है। सारी आचार-संहिता को ताक पर रखते हुए 'रेवेन्यू जेनरेट' करने के लिए वे कुछ भी करने को तैयार हैं। वहाँ भी तमाम कार्यक्रमों के नाम जो हिन्दी में थे, हटा कर अंग्रेजी के कर दिए गए हैं- वे अब एफएम की होड़ में हैं। बाजार-निर्मित फंडों के घोड़ों पर सवार होकर वे पापुलर कल्चर के पीछे भाग रहे हैं।

जनतांत्रिक राजनीति के कोड़े से पिटा हुआ प्रसारण-बिल, वापस किसी ऐसे बिल में घुस गया है, जहाँ, से उसका बाहर निकलना मुमकिन नहीं रह गया है। वक्त के चूहे उसे कुतर-कुतर कर खत्म कर देंगे। क्योंकि, अब प्रसार-माध्यमों को कोई 'निषेध' पसंद नहीं। अब इन्हें हर निषेध अभिव्यक्ति की स्वतंत्रता का दमन लगता है। उदारवाद के (जन)तांत्रिकों ने उनके कानों में यह मंत्र फूंक दिया है- कि राष्ट्र कुछ नहीं सामाजिक, सांस्कृतिक और आर्थिक स्थानीयता की वर्चस्ववादी और दमनकारी व्यवस्था है। भारत एक राष्ट्र नहीं, बल्कि सैकड़ों राष्ट्रीयताओं का समुच्चय है, इसलिए भारत के नक्शे पर फैली भिन्न-भिन्न 'राष्ट्रीयताएं' जितनी जल्दी मुक्त हों, उतना ही श्रेयस्कर है। राष्ट्र-राष्ट्र सिर्फ बौड़मों की चीख है। उसकी अनसुनी अनिवार्य है। ये उसके विखंडन के हवन में अपनी तरफ से आहुति दे रहे हैं। इस हवन में पूर्णाहुति के लिए उन्हें सिर्फ अब एफएम को केवल समाचार-प्रसारण की अनुमति की जरूरत है। फिर देखिए, सेकेंड-दर-सेकेंड कैसे पैसा बरसता है।

निश्चय ही बहुराष्ट्रीय निगमों की एक लंबी कतार भारत में खड़ी हो गई है और उनकी जेबें लंबी हैं। उनमें सारे मीडिया की कटी हुई जबानें भरी पड़ी हैं। इसलिए, वे बोल नहीं रहे हैं, बस लगातार गुनगुना रहे हैं- 'भूमंडलीकरण भक्तिगीत'।

जिस उदारवाद की अगुवाई के लिए आनन-फानन में बगैर कोई आचारसंहिता के निर्धारण किये निजी एफ.एम. के लिये जो प्रसारण क्षेत्र में जगह बनाई गई, वह सत्ता की नियमहीनता का लाभ लेकर एक किस्म की सांस्कृतिक अराजकता के खतरनाक खेल में बदल गई है। क्योंकि उसके सामने प्रतिबद्धता या जबावदेही का कोई प्रश्न ही नहीं है।

अंधायुग

क्लासिक

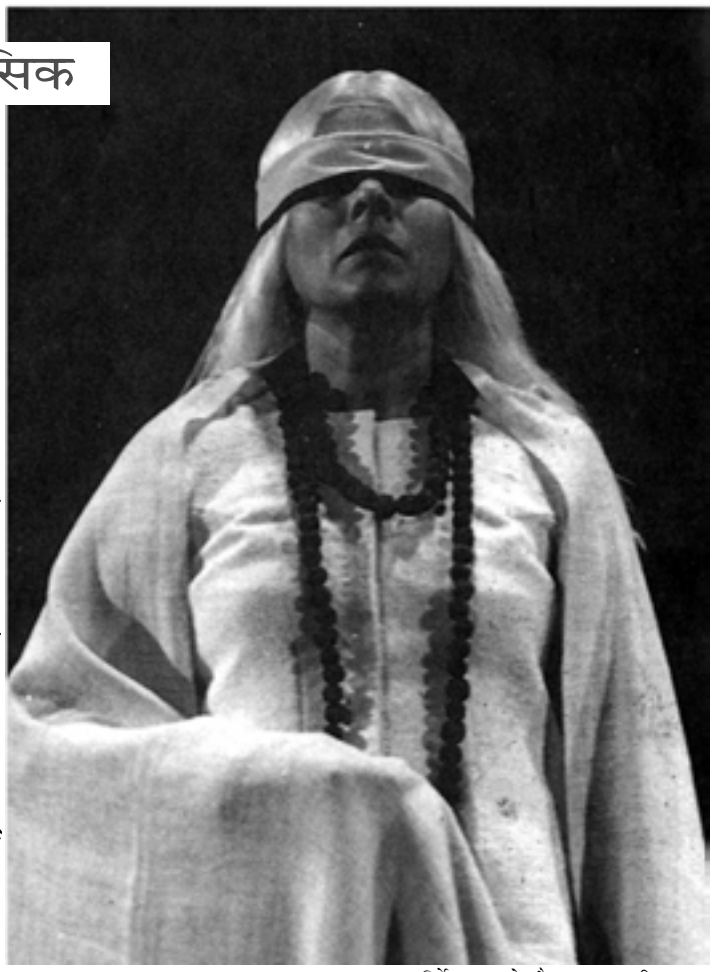

निर्देशक एम.के. रैना, एन.एस.डी. 1977

संस्कृत में शूद्रक के बाद आधुनिक युग में भारती का 'अंधायुग' क्लासिक नाट्य-परंपरा का पहला महत्वपूर्ण भारतीय नाटक है।

-गिरीश कर्नाड

जयदेव तनेजा

हिन्दी नाटक के इतिहास में जयशंकर प्रसाद के 'करुणालय' से लेकर प्रभात कुमार भट्टाचार्य के 'काठमहल' और डॉ. विनय के 'एक प्रश्न मृत्यु' तक काव्य-नाटक की एक लंबी परंपरा है। परन्तु काव्य-नाटक को ठीक-ठीक परिभाषित करने, उसकी शक्ति और सीमा, उपलब्धि और संभावना को रेखांकित करने तथा इस विधा की नाट्यात्मक क्षमता, उपलब्धि और संभावना को रेखांकित करने तथा इस विधा की काव्यात्मक सामर्थ्य को प्रदर्शित करके श्रेष्ठ नाटक का प्रतिमान स्थापित करने में जो योगदान **'अंधायुग'** ने दिया है, वह इसे केवल हिन्दी नाटक ही नहीं बल्कि संपूर्ण आधुनिक हिन्दी साहित्य की अत्यंत महत्वपूर्ण कृति सिद्ध करने के लिए पर्याप्त है। आचार्य नंददुलारे वाजपेयी के मत से- ''हिन्दी के क्षेत्र में यह कार्य उसी भूमिका का है जिस भूमिका का कार्य टी.एस. इलियट के 'मरडर इन द कैथेड्रल' नामक कृति का है।'' हिन्दी रंगमंच के उद्भव, विकास, प्रयोग-समृद्धि और की दृष्टि से, 'अंधायुग' निःसंदेह एक आधुनिक क्लासिक है।

महाभारतकालीन घटनाओं तथा पात्रों के बहाने से अपने समकालीन यक्ष-प्रश्नों और कुछ शाश्वत् सवालों से हमारा सीधा साक्षात्कार कराने वाली इस नाट्यकृति का नाम केवल इसलिए 'अंधायुग' नहीं है कि रचना में लेखक ने छः बार इस शब्द का प्रयोग किया है और न इसलिए कि वर्णित युग के सिंहासन पर जन्मजात अंधे धृतराष्ट्र का अधिकार था या माता गांधारी ने आँखों पर पट्टी बांधकर स्वयं अंधता का वरण कर लिया था। सत्य तो यह है कि वह संपूर्ण युग ही भयानक अंधता से आक्रांत था। डॉ. शिव प्रसाद सिंह के शब्दों में- ''...समाज के अंदर जो दिशाहारा स्थिति, जो इक्जिटवाली स्थिति-कोई रास्ता नहीं हमारे सामने, कोई विकल्प नहीं है, हम जानते हैं कि भ्रष्टाचार है, जानते हैं कि बेईमानी है, घूसखोरी है, कालाबाजारी है, सब कुछ है, लेकिन किधर जाएँ, रास्ता क्या है इसका? कोई रास्ता नहीं है। जो यह बेचारगी की स्थिति है, इस स्थिति को ही कई नामों से पुकारा जा सकता है। इसको फ्रांस के बहुत बड़े दार्शनिक ज्याँ पाल सार्त्र ने एब्सर्डिटी यानी निरर्थकता का बोध कहा। इसको गुस्से में आप बेहूदगी कह लीजिए। कुछ ऐसी चीज़ है, कुछ हम चाहते हैं कि परिवर्तन हो, नेता ईमानदार हों, हम ईमानदार हों, अफसर ईमानदार हों, लेकिन सब कुछ मिला करके लगता है कि नीचे से ऊपर तक सड़ चुका है। लेकिन क्या किया जाए, कोई रास्ता नहीं दिखलाई पड़ता...क्या इसी को प्रकारांतर से 'अंधायुग' नहीं कहा जा सकता? इस प्रकार की स्थितियाँ हैं कि अन्याय हम अपनी आँखों के सामने देखते हैं कि द्रौपदी का चीरहरण हो रहा है, किन्तु न तो अर्जुन का गांडीव उठता है और न भीम की गदा उठती है। सब मौन बैठे हुए हैं। ऐसी स्थिति में समय जिस संकट, जिस क्राइसिस से होकर गुजरता है तो उसको क्या नाम दिया जाए? 'अंधायुग' एक ऐसा नाटक है जो मिथक यानी माइथालाजी के एक अंश को लेकर उसे आधुनिक दृष्टि से उपस्थित करने का प्रयत्न करता है।''

यह युग इसलिए अंधा है क्योंकि यहाँ कौरवों से लेकर पांडवों तक और राजा से लेकर प्रजा तक सबके सब एक सर्वग्रासी युगांधता में पूरी तरह डूबे हुए हैं। आदि से लेकर अंत तक यहाँ भय का अंधापन, ममता का अंधापन और अधिकारों का अंधापन व्याप्त है जिसमें

अंधे शासक, अंधे माता-पिता, अंधे आदेश, अंधे श्रोता, अंधे साँप, अंधे प्रेत, अंधे संशय, अंधी आशा, अंधी प्रतिहिंसा, अंधी प्रवृत्तियाँ, अंधी गहन गुफाएँ, अंध लोक, अंध बर्बर पशु, आत्मघाती अंध, अंध गह्वर, अंधा समुद्र और अंधा दर्शन कुछ ऐसा प्रलयंकर हो रहा है कि इसने आस्था, विश्वास विवेक, ज्ञान, न्याय, प्रकाश और भविष्य को भी अंधा कर दिया है। अंधेपन की इस अटल परंपरा में चीत्कारता यह दृष्टिहीन युग अंधायुग के अतिरिक्त और हो ही क्या सकता था?

निर्देशन रामगोपाल बजाज एन.एस.डी. 1992

धृतराष्ट्र की जन्मजात और गांधारी द्वारा स्वयं धारण की गई अंधता के अतिरिक्त अश्वत्थामा, युयुत्सु, संजय, कृतवर्मा, कृपाचार्य, प्रहरी इत्यादि पात्रों की अंधता मूलतः उनके किन्हीं व्यक्तिगत कारणों की परिणति नहीं है। यह उस व्यापक राजनैतिक, सामाजिक और नैतिक परिवेशगत अंधता का अनिवार्य परिणाम है, जिसे भारती समग्रतः 'अंधी संस्कृति' की संज्ञा देते हैं। यह अंधायुग वास्तव में इन पात्रों की नस-नस में पैठ गया है। संभव है इस नामकरण के पीछे भारती के चेतन-अवचेतन में इलियट की प्रसिद्ध रचना 'बेस्ट लैंड' अथवा 'बर्डेव' के शब्द डार्क नाइट या डार्क अरा विद्यमान रहे हों क्योंकि ''अपने समकालीन यूरोपीय धर्मनिरपेक्ष अथवा धर्महीन (अथवा गैर-एंग्लोकैथलिक) समाज को इलियट ने वेस्टलैंड कहा। और धर्मवीर भारती ने मर्यादा-निरपेक्ष अथवा मर्यादाहीन युग को अंधायुग बताया।''बर्डेव भारती के प्रिय चिंतक भी रहे हैं। डॉ. परमानंद श्रीवास्तव के अनुसार ''रवींद्रनाथ ने धृतराष्ट्र-गांधारी संवाद में धृतराष्ट्र को मोहांध बताया था। भारती ने एक युग को ही 'अंधायुग' बताया है। अंधायुग कवि के सामने एक जीवन संकट के रूप में आता है पर सब मिलाकर वह एक अंतराल है- स्थितियों, मनोवृत्तियों, आत्माओं की विकृति से जर्जर एक अंतराल।'' तो क्या सचमुच 'भारती' का 'अंधायुग' किसी 'एक युग' विशेष अथवा 'अंतराल' से ही संबद्ध है? क्या सचमुच हमारे आज के जीवन या कल के समय से इसका कोई संबंध नहीं है?

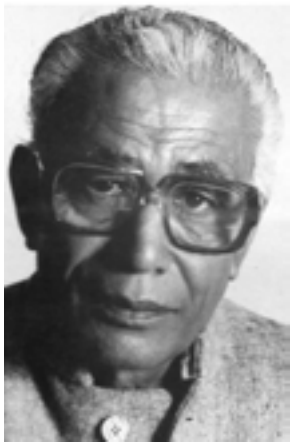

'अंधायुग' के लेखक धर्मवीर भारती

क्षयग्रस्तता, मूल्यांधता, मर्यादाहीनता, स्वार्थपरता, सत्ता-लोलुपता, चरित्रहीनता, बर्बरता, संशय और कुंठाग्रस्तता चाहे महाभारत काल की हो, चाहे प्रथम और द्वितीय विश्व महायुद्ध काल की या राष्ट्रीय स्तर पर स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद सन् 1950-51 के आसपास की-कोई अंतर नहीं पड़ता। किसी भी देश-काल में स्थितियों, मनोवृत्तियों और आत्माओं की विकृति तथा दिग्भ्रम, मदांधता एवं विनाश ही 'अंधा युग' के जनक बनते हैं। आज के युग में जबकि डॉ. भारती के अनुसार, ''कहीं आर्थिक वैषम्य के कारण, कहीं चिंतन पारतंत्र्य के कारण मनुष्य विवेक से शून्य, स्वतंत्र संकल्प से रहित, भावावेशों, या बाह्य हिप्नाटिक प्रभावों और ऐंद्रजालिक अंतर्विरोधों से परिचालित मानव-यंत्र मात्र रह गया है। यदि हम उसकी मानवीयता का पुनरुद्धार करके उसे पुनः मूल्यों की खोज और निर्धारण कर अपनी नियति के स्वामी के रूप में प्रतिष्ठित नहीं करते तो हम एक ऐसे अमानुषिक अंधकार के युग में जा गिरेंगे जो मध्य युग से ज्यादा त्रासदायक होगा।'' क्योंकि हम देख चुके हैं कि कोई भी 'प्रभु' या 'महामानव', 'विज्ञान' या 'व्यवस्था' मानव-भविष्य को बचाने में असमर्थ है। भावी स्वर्णयुग का काल्पनिक उषा काल अपने जन्म से पहले ही काला पड़ने लगा है। हम निःसंदेह एक भयानक काली रात की दहलीज पर खड़े हैं और अंधे युग की गहराती हुई ये जो स्याह छायाएँ घिर रही हैं, इनका सीधा संबंध हमारे ही वर्तमान और भविष्य से है। अंधायुग के 'अंतराल' में नाटककार प्रेतात्मा के माध्यम से केवल पात्रों की ही आंतरिक असंगति समझने का प्रयास नहीं करता बल्कि उस संपूर्ण युग को भी अंधे समुद्र के साँग रूपक के माध्यम से गहराई तक चीर-फाड़ कर देखता-दिखाता है। उसके अनुसार-यह अंधायुग चौतरफा पहाड़ों से घिरे एक ऐसे अंधे समुद्र की तरह है जिसमें दर्रों और गुफाओं से उमड़ते हुए भयानक तूफान चारों ओर ही उसे मथ रहे हैं और नागलोक के गहवर में एक-दूसरे से लिपटे हुए केंचुल चढ़े सैकड़ों अंधे साँप टेढ़े-मेढ़े, रेंग-रेंग कर उसके बहाव में गति पैदा कर रहे हैं अर्थात् सैकड़ों धाराएँ, उपधाराएँ, सिद्धांत, विचार, मान्यताएँ और वाद परस्पर संघर्ष कर रहे हैं और अवचेतन की दमित इच्छाओं के वशीभूत होकर मोहांध और विषाक्त प्रकृति के व्यक्ति आँखों पर केंचुलों की तरह सफेद पट्टियाँ बाँधकर सर्वव्यापक अंधता और विनाश का कारण बन रहे हैं।

यहाँ शंका उठ सकती है कि इस महाभारतीय अंधायुग के अवतरण का मूल कारण हमारी वह आध्यात्मिक और विचारात्मक संस्कृति थी जिसने हमें नैतिक रूप से विकलांग बनाकर समय की सच्चाइयों से काट कर अंधा बना दिया था। परन्तु क्या प्रमाण है कि वर्तमान युग की भौतिकवादी संस्कृति भी हमें वहीं नहीं ले जाएगी? इसके उत्तर में मैं भविष्य की नहीं वर्तमान की बात करते हुए मात्र इतना कहना चाहूँगा कि यदि हम अपने आज को इस भौतिक और

इंद्रियपरक पश्चिमी संस्कृति को आँख खोल कर (?) देख सकें तो स्थिति में कोई भी मूलभूत अंतर नहीं दिखाई देगा। प्रसिद्ध दार्शनिक, समाजशास्त्री और चिंतक पित्रिम सोरोकिन के अनुसार- ''जीवन का हर पहलू, हर संघटन, हर संस्था और संस्कृति एक अद्वितीय संकट के दौर से गुजर रहे हैं। बाहरी कलेवर और आंतरिक मानस रोगग्रस्त है। और इस सामाजिक शरीर का शायद ही कोई ऐसा हिस्सा हो, जो सूजा न हो, घायल न हो, शायद ही कोई ऐसा स्नायु मिले, जो समुचित ढंग से अपना कार्य कर रहा हो...काली छायाएँ निरंतर मँडरा रही हैं, हमारे लिए कुछ भी स्पष्टता से देख पाना निरंतर मुश्किल होता जा रहा है, इस गड़बड़ी में अपने को बचाकर सही दिशा में ले जाना असंभव-सा लगने लगा है। इस संक्रमण-कालीन संध्या की कालिमा घुमड़ रही है, दुःस्वप्न उभर रहे हैं, दिल कँपाने वाली डरावनी छायाएँ बढ़ रही हैं और निरंतर विकासमान संत्रास को चीर पाना कठिन हो गया है।'' यह स्थिति 1941 की है जिसे सोरोकिन ने एक शब्द में कालीरात कहा था और चेतावनी दी थी- ''यह इंद्रियपरक संस्कृति अपराध भावना, युद्ध, क्रांति, आत्महत्या, मानसिक रोग और भयानक गरीबी को अनिवार्य रूप से जन्म देगी।'' कौन कह सकता है कि उसकी भविष्यवाणी सत्य सिद्ध नहीं हुई और वह 'कालीरात' आज अंधायुग बनकर उपस्थित नहीं है, जिसमें मनुष्य के बीज-वंश तक के समूल नष्ट हो जाने का खतरा सिर पर मँडरा रहा है। और इसी बिन्दु पर इस कृति का नामकरण और कृतिकार का यह कथन सत्य प्रतीत होने लगता है कि : ''उस दिन जो अंधा युग अवतरित हुआ जग पर/बीतता नहीं रह-रह कर दोहराता है।''

निर्देशन सत्यदेव दुबे

मनुष्य ने अपने रक्षक और मसीहा को स्वयं ही समाप्त कर दिया है, इसलिए उसका अंधेरे में भटकना स्वाभाविक और अनिवार्य है। परन्तु बुनियादी सवाल यह है कि वे परिस्थितियाँ कौन सी हैं और क्यों हैं जिनमें अंधा होकर व्यक्ति 'प्रभु' तक को चुनौती देने और उसे मारने तक का दुस्साहस कर जाता है।

क्योंकि हमेशा कहीं न कहीं किसी न किसी मूल्य-मर्यादा (कृष्ण, ईसा, गाँधी, मार्टिन लूथर किंग) की हत्या होती रहती है और अश्वत्थामा की अमानुषिक बर्बरता, संजय की निष्क्रिय घातक तटस्थता, युयुत्सु की आत्मघाती घृणा और प्रहरियों की दासवृत्ति के गहराते अंधकार से झुटकारा पाना लगभग असंभव ही प्रतीत होता है। इसलिए 'अंधायुग' किसी विशिष्ट स्थिति अथवा युग विशेष का द्योतक न होकर अतीत, वर्तमान और भविय को एक साथ अपने में समाए हुए है। अतः कुण्ठा, हताशा, रक्तपात, घृणा, प्रतिशोध, विकृति, संत्रास, भय, मूल्यहीनता, कुरूपता और विध्वंस के सार्वग्रासी सूचीमेय अंधकार का संगत और सार्थक बिंब एवं प्रतीक है- अंधायुग। और यहीं इस अत्यंत प्रासंगिक और महत्वपूर्ण प्रश्न से हमारा सामना होता है कि आखिर यह 'अंधायुग' क्यों और किन परिस्थितियों में अवतरित होता है और इसके लिए जिम्मेदार कौन है या हैं?

मनुष्य ने अपने रक्षक और मसीहा को स्वयं ही समाप्त कर दिया है, इसलिए उसका अंधेरे में भटकना स्वाभाविक और अनिवार्य है। परन्तु बुनियादी सवाल यह है कि वे परिस्थितियाँ कौन सी हैं और क्यों हैं जिनमें अंधा होकर व्यक्ति 'प्रभु' तक को चुनौती देने और उसे मारने तक का दुस्साहस कर जाता है। इसलिए बात को देखने का एक कोण यह भी हो सकता है और है कि अंधेयुग का अवतरण 'प्रभु की मृत्यु' के दिन से नहीं हुआ बल्कि इसका आरंभ उसी दिन हो गया, जब हमने मान लिया कि मर्यादा की उलझी डोरी को- सिर्फ कृष्ण में साहस है सुलझाने का, वह है भविष्य का रक्षक, वह है अनासक्त। और अपने समस्त कर्मों और भविष्य का संपूर्ण उत्तरदायित्व उसे सौंप कर हम निश्चिंत और आश्वस्त हो गए। व्यक्ति चाहे यह समर्पण अपनी इच्छा से करे और चाहे उसे ऐसा करने के लिए विवश किया जाए, हर हालत में, ''.....किसी देश की बौद्धिक सक्रियता, जागरूकता और मौलिक चिंतना शक्ति के लिए इतिहास का इससे दुर्भाग्यपूर्ण क्षण और कोई नहीं हो सकता कि देश एक व्यक्ति के समक्ष छोटा या मूल्यहीन साबित किया जाने लगे, समूचे जन-मानस की संकल्प शक्ति और जीवन-दृष्टि को अक्षम और निःसार बनाने के लिए इससे ज्यादातर कारगर और कोई तरीका इतिहास में नहीं रहा है कि एक व्यक्ति की छाया से सारे आकाश को ढँक दिया जाए।'' फिर यह व्यक्ति प्रभु कृष्ण है, या कोई भी अन्य इतिहास पुरुष-कोई फर्क नहीं पड़ता। शासन का 'प्रहरी' (सामान्य-जन) जब-जब तटस्थ, निर्लिप्त और दास बन जाएगा तब-तब अंधेयुग का अवतरण अनिवार्यतः होगा ही। संभवतः इसीलिए शासन को भ्रष्टाचारी और निरंकुश होने से बचाने के लिए जनता को सतत् जागरूक और शक्तिशाली नियंत्रक-शक्ति बने रहना अत्यन्त आवश्यक है।

महाभारत के अठारहवें दिन की संध्या से लेकर प्रभास तीर्थ में श्रीकृष्ण की मृत्यु के क्षण तक की घटनाओं पर आधारित अंधायुग में

जो कुछ कहा गया है, जो संप्रेषणीय कथ्य है, वह आज का है। इसलिए 'अंधायुग' की मूल कथा-वस्तु यद्यपि पौराणिक है, पर उसका रेशा-रेशा आधुनिक युग की समस्याओं तथा स्थितियों से बना है।

आधुनिक युग की समस्याओं तथा स्थितियों का संबंध एक ओर समग्र रूप से संपूर्ण विश्व से है तो दूसरी ओर हमारे निजी संदर्भ में भारतवर्ष से। द्वितीय विश्वयुद्ध के बाद अपने अनिश्चित भविष्य से वहाँ का मनुष्य संत्रस्त और भयभीत हो उठा। उस भय ने उसका नैतिक बोध छीन लिया। मर्यादा, आदर्श, दायित्व, मानव-मूल्य खोखले-ध्वस्त शब्द मात्र रह गए। इससे संवेदनशील साहित्यकार हाथी दाँत की नक्काशीदार मीनारों में बंद नहीं रह सके और उन्होंने युद्ध एवं युद्धोत्तर जीवन-जगत् को 'वस्तु' बनाकर अनेक कृतियों की सृष्टि की। यहीं पर एक स्वाभाविक प्रश्न उठता है, जैसा कि अनेक समीक्षकों ने उठाया भी है, भारत ने महायुद्ध को अपनी छाती पर नहीं झेला था, द्वितीय विश्व महायुद्धोत्तर यूरोप और भारत की स्थिति में कोई साम्य नहीं था, फिर 'अंधायुग' में अनुभव की तीव्रता और प्रामाणिकता तथा भारती की सच्चाई और ईमानदारी का प्रमाण क्या है? उत्तर में फ्रांसिस स्कार्फ के आडेन एंड आफ्टर की ये पंक्तियाँ याद की जा सकती हैं : ``The best was poetry is necessarily written not by those who see war but by those who feel it most intensely." इस संदर्भ में स्वयं लेखक ने भी स्वीकार किया है कि- ''...न केवल इस ख्याल से कि अखिल मनुष्य जाति की नियति एक है पृथक-पृथक खंडों में विभाजित नहीं, हम एशिया के लेखक और बुद्धिजीवी यूरोप के इस संकट के प्रति जागरूक और संवेदनशील हो उठे, वरन् ठोस ऐतिहासिक वस्तु-स्थिति ने इस बात का स्पष्ट संकेत दिया कि इस वात्याचक्र से एशिया बच नहीं सकता, और जब हिरोशिमा पर पहला अणुबम गिरा तब अकस्मात् हमने चौंककर अनुभव किया कि हम अब तक इतिहास की इस चुनौती को अनसुनी करते रहे तो करते रहे पर अब इसे अनसुनी न कर सकेंगे।'' और 'अंधायुग' इसी चुनौती का साहित्यिक उत्तर है।

भारतीय संदर्भ में भी यदि हम ध्यान से देखें तो पता चलता है कि स्थिति अधिक भिन्न नहीं थी। लंबे संघर्ष बलिदान और त्याग के बाद हमने स्वतंत्रता पाई थी, लेकिन उसके साथ ही हमें विभाजन का अभिशाप भी मिला था। संघर्ष के समाप्त होते ही सत्ता, शासन और भोग का युग आया। आशाएँ और कल्पनाएँ निराधार सिद्ध हुईं। भव्यता के प्रभामण्डल निस्तेज पड़ने लगे और नायकों तथा परिस्थितियों में अंतर्निहित असंगतियाँ, स्वार्थलिप्सा, मर्यादाहीनता, अविवेक और खोखला स्पष्ट दीखने लगे। कल के चाँद और सूरज आज पाँव में चुभने वाले काँच के टुकड़े बन गए। सामान्य जन का 'मोहभंग' हुआ। पंडित नेहरू ने यूनेस्को के अधिवेशन में इसी स्थिति को 'अंतरात्मा के विध्वंस' की संज्ञा दी थी। स्वयं भारती के शब्दों में, ''हम जो लेखक हैं, बुद्धिजीवी हैं, चिंतक हैं, मानव आत्मा के शिल्पी हैं, हमारे लिए इस संकट का ज्यादा अर्थ है। ...हमारे लिए तो प्रश्न यह है कि यह संपूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी वे झूठे पड़ गए हैं, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है, शब्द और अर्थ के बीच में विघटन है, आचरण और धारणा के बीच में खाई है, भाषा अशुद्ध और अक्षम हो गई है, अनुभूति के धरातल विक्षुब्ध हो गए हैं और मिथ्या को प्रश्रय देने लगे हैं, और परिणाम यह है कि मानवीय गौरव को कभी प्रजातंत्रवाद और कभी जनवाद और कभी अध्यात्मवाद और कभी स्वातंत्र्य, कभी दायित्व और कभी अलौकिकता के नाम पर प्रतिक्षण आहत और पददलित किया जा रहा है।'' इस संदर्भ और परिप्रेक्ष्य में देखने पर कौन कह सकता है कि अंधायुग में लहूलुहान आस्थाओं, क्षत-विक्षत विश्वासों, घायल मान्यताओं, ध्वस्त मर्यादाओं और बद्धमूल कुंठाओं का जो सड़ांध एवं तनाव भरा वातावरण आज तक विद्यमान है, उसका हमसे या हमारे आज से कोई सीधा रिश्ता नहीं है?

लंबे संघर्ष बलिदान और त्याग के बाद हमने स्वतंत्रता पाई थी, लेकिन उसके साथ ही हमें विभाजन का अभिशाप भी मिला था। संघर्ष के समाप्त होते ही सत्ता, शासन और भोग का युग आया। आशाएँ और कल्पनाएँ निराधार सिद्ध हुईं। भव्यता के प्रभामण्डल निस्तेज पड़ने लगे और नायकों तथा परिस्थितियों में अंतर्निहित असंगतियाँ, स्वार्थलिप्सा, मर्यादाहीनता, अविवेक और खोखल स्पष्ट दीखने लगे। कल के चाँद और सूरज आज पाँव में चुभने वाले काँच के टुकड़े बन गए।

निर्देशन कमलाकर सोनटके, संगीत कला केन्द्र, मुंबई 1997

जिन विद्वानों को 'अंधायुग' में इतिहास के प्रति एक बड़ा 'अतिचार' तथा 'भारतीय संस्कृति के प्रति अन्याय' दिखाई देता है, अथवा वे जिन्हें लगता है कि ''इससे न केवल जन-साधारण के अंतःकरण में निहित सत् संस्कारों को ठेस पहुंचती है, वरन् भारतीय संस्कृति को भी आघात लगता है।' ऐसे विद्वानों को यह स्मरण रखना चाहिए कि इस काव्य-नाटक का मूल उद्देश्य महाभारत की कुछ घटनाओं को दोहराना मात्र

नहीं है। नाटककार आज के जीवन की समस्याओं और मूल्यांधता की स्थिति को प्रस्तुत करना चाहता है और इस प्रस्तुतीकरण को प्रभावपूर्ण तथा सहज संवेद्य बनाने के लिए महाभारत के उत्तरार्द्ध की कुछ घटनाओं का 'आश्रय' भर ग्रहण कर लेता है। कथ्य में परंपरा और प्रयोग की दृष्टि से पौराणिक अतीत का ग्रहण भारती ने इसलिए किया क्योंकि ''उन संदर्भों के माध्यम से वर्तमान में मूल्य-संकट को व्यक्त कर पाने में अधिक सफलता मैंने अनुभव की...जब मैं कहता हूँ युद्धोपरांत यह अंधायुग अवतरित हुआ' तब आज का युद्धोपरांत ही व्यंजित होता है।'' आज के जीवन को आज के पात्रों से सीधे-सीधे अभिव्यक्ति न देने का कारण बताते हुए भारती आगे कहते हैं- ''ये पौराणिक पात्र शताब्दियों से हमारे जातीय मानस से इस कदर आत्मीय हो चुके हैं कि उनके माध्यम से कही जाने वाली बात संस्कारी पाठक के मन को कई स्तरों पर अधिक गहराई से झंकृत करती है और शब्दों की संप्रेषण-क्षमता कहीं अधिक सक्रिय हो उठती है।'' संभवतः इसीलिए अनेक विद्वानों ने काव्य-नाटक और पौराणिक कथाओं का घनिष्ठ संबंध माना है। साहित्यकार को यह अधिकार होता है कि वह अपने उद्देश्य की सिद्धि के लिए, अपनी कल्पना के अनुरूप इतिहास से कुछ स्थलों को ग्रहण कर, शेष को छोड़ दे। और भारतीय ने अपने इसी अधिकार का उपयोग यहाँ किया है।

'अंधायुग' की सभी प्रमुख घटनाएँ तथा कौरवों और पांडवों दोनों द्वारा मर्यादा भंग के सभी उद्धरण, प्रसंग और संदर्भ महाभारत से ज्यों के त्यों प्रस्तुत किए गए हैं। कौए और उल्लू के प्रतीकात्मक प्रसंग द्वारा अश्वत्थामा को अर्द्ध सत्य की प्राप्ति और पांडवों को कपटपूर्वक मारने का निश्चय, पांडव-शिविर के बाहर अश्वत्थामा को शिव का विराट रूप देखना, उसका हार मानकर वंदना करना, शिव का प्रसन्न होकर अपनी दैवी शक्ति प्रदान करना तथा अश्वत्थामा द्वारा पांडव-शिविर में नृशंस हत्या-कांड; ब्रह्मास्त्र का प्रयोग और प्रभाव; अश्वत्थामा के ब्रह्मास्त्र का उत्तरा के गर्भ पर गिरना, श्रीकृष्ण द्वारा मृत-शिशु को जीवित कर देने की घोषणा और श्रीकृष्ण का नराधम अश्वत्थामा को शाप की सभी घटनाएं महाभारत के सौप्तिक-पर्व से ली गई हैं। संजय की दिव्य-दृष्टि का लोप; गांधारी का शाप और श्रीकृष्ण द्वारा उसका सहर्ष स्वीकार स्त्री-पर्व से ग्रहण किए गए हैं। वनदाह की घटना यदि 'महाभारत' के आश्रमवासिक पर्व से ली गई हैं तो अपशकुन वर्णन तथा प्रभु की मृत्यु मौसल पर्व से। अंतराल (पंख, पहिए और पट्टियाँ) में वृद्ध-याचक द्वारा सम्मोहित पात्रों को दर्शक के मानसिक संदेहों को दूर करने के लिए प्रस्तुत करना 'महाभारत' के आश्रमवासिक पर्व से प्रभावित हैं जहाँ व्यासजी अपनी तपस्या के आश्चर्यजनक प्रभाव से मरे हुए वीरों को प्रकट करके, उन्हें उनके संबंधियों से मिलाकर उनके 'मानसिक संदेहों का निवारण' करते हैं।

चरित्र-सृष्टि की दृष्टि से भी अधिकार-अंध धृतराष्ट्र, आँखों पर पट्टी बाँधे पुत्र-वस्तल गांधारी, दिव्य-दृष्टिवाला निष्क्रिय संजय, प्रतिहिंसा में अंधा बर्बर अश्वत्थामा तथा डाँवाडोल आस्तिक विदुर, कृतवर्मा, कृपाचार्य, द्विधाग्रस्त युधिष्ठिर (मंच से अनुपस्थित श्रीकृष्ण और बलराम)- सबके सब पात्र 'महाभारत' से लिए गए हैं और उनका चरित्र भी यथासंभव मूल रूप से ही प्रस्तुत किया गया है। इन पात्रों की महाभारत कालीन बाह्य रेखाओं के भीतर ही भारती ने अपने नाटक की मूल भावना और उद्देश्य के अनुरूप मनवांछित रंग भरे हैं। यही कारण है कि अपने ऐतिहासिक अस्तित्व के बावजूद 'अंधायुग' में गांधारी का अत्यधिक कठोर पाषाणी-रूप, नर पशु अश्वत्थामा का श्रीकृष्ण के समानांतर प्रस्तुतीकरण और युयुत्सु का संपरूर्ण दंशित चरित्र भारती की नितांत अपनी कृति है। कथागायक, दो प्रहरी, वृद्ध याचक जरा तथा एक पंगु गूँगा सैनिक जैसे गौण परन्तु नाटकीय दृष्टि से महत्वपूर्ण इन पात्रों की कल्पना

निर्देशन रतन थियम, एन.एस.डी. 1984

''भय का अंधापन,
ममता का अंधापन/
अधिकारों का
अंधापन जीत गया/
जो कुछ सुंदर था,
कोमलतम था/वह
हार गया... द्वापर
युग बीत गया।''
'द्वापर युग' भले ही
बीत गया हो,
परन्तु वह
'अंधायुग' आज भी
जीवित है।

निर्देशन इब्राहिम अल्काज़ी एन.एस.डी. 1977

हमारे लिए तो प्रश्न यह है कि यह संपूर्ण सभ्यता जिन मूल्यों पर आधारित थी वे झूठे पड़ गए हैं, परिणाम यह है कि एक भयानक विघटन उपस्थित है, शब्द और अर्थ के बीच में विघटन है, आचरण और धारणा के बीच में खाई है, भाषा अशुद्ध और अक्षम हो गई है, अनुभूति के धरातल विक्षुब्ध हो गए हैं

भी नाटककार की अपनी सृष्टि है। महाभारत के पात्रों के प्रत्येक कृत्य का 'क्योंकि' धर्म की दृष्टि से पूर्व नियोजित है, जब कि अंधायुग के पात्रों के सभी कृत्यों का 'क्योंकि' उनकी मानवीयता में छिपा है और मनोविज्ञान पर आधारित होने के कारण अधिक विश्वसनीय तथा स्वाभाविक है।

डॉ. धर्मवीर भारती ने 'अंधायुग' के प्रत्येक पात्र को मूल्यांधता के किसी न किसी रूप, स्तर या पक्ष-दैहिक, मानसिक, नैतिक और आध्यात्मिक-के प्रतीक रूप में भी प्रस्तुत किया है। आशा, विश्वास, आस्था और मर्यादा के मोरपंख तथा रक्तरँगी, भयानक अदम्य, अंधी घृणा के कौए के कटे काले पंख के बीच मानवीयता के न जाने कितने रूप-रंग इस रचना में बिखरे पड़े हैं। धृतराष्ट्र दैहिक अंधतावश, गांधारी जड़ पुत्र-मोह के कारण, अश्वत्थामा पाश्विक प्रतिशोध और अंधी घृणा के कारण संजय अपनी तटस्थता-निष्क्रियता के कारण, युधिष्ठिर अर्द्ध-सत्य-संशयग्रस्तता और युयुत्सु स्वनिर्णयहीनतावश सत्य का साक्षात्कार करने में असमर्थ है। जनसाधारण के प्रतीक प्रहरियों की कल्पित निर्लिप्तता और श्रीकृष्ण की आचरणगत मर्यादाहीनता (गांधारी के शब्दों में- 'प्रभुता का दुरुपयोग') भी उसी अंधता के ही प्रतिरूप हैं, जिनके विषय में भारती का कथन है : ''भय का अंधापन, ममता का अंधापन/अधिकारों का अंधापन जीत गया/जो कुछ सुंदर था, कोमलतम था/यह हार गया...द्वापर युग बीत गया।''

'द्वापर युग' भले ही बीत गया हो, परन्तु वह 'अंधायुग' आज भी जीवित है और इस जीवित अंधेपन का महाभारत काल से लेकर आज तक ज्यों का त्यों चले आना वैसा ही बने रहना-बल्कि और अधिक गहराकर जन-मानस में पैठ जाना-इस रचना को समसामयिक संगति प्रदान करता है। डॉ. रामस्वरूप चतुर्वेदी का यह कथन सही है कि- ''पौराणिक कथानक को लेकर अपने युग के प्रति इतना गहरा 'कन्सर्न' समासोक्ति अथवा रूपक नहीं है, वह इतिहास की पुनरावृत्ति का सहानुभूतिपूर्ण अध्ययन है।''

'अंधायुग' पाँच अंकों में विभक्त पौराणिक कथा पर आधारित एक आधुनिक पूर्ण-कालिक काव्य-नाटक है। पाँचों अंकों के प्रतीकात्मक शीर्षक दिए गए हैं- कौरव नगरी, पशु का उदय, अवशत्थामा का अर्द्ध-सत्य, गांधारी का शाप और; विजय, एक क्रमिक आत्महत्या, पारंपरिक ढंग के 'स्थापना' (अंधायुग) और 'समापन' (प्रभु की मृत्यु) के साथ-साथ तीसरे और चौधे अंक के बीच 'अंतराल' (पंख, पहिए और पट्टियाँ) का भी नियोजन भी किया गया है। स्वयं रचनाकार के शब्दों में, ''ये छः शीर्षक कथा-विकास तथा मानवीय मर्यादा की सापेक्ष स्थिति को सूचित करते हैं।''

फॉर्म की दृष्टि से 'अंधायुग' पर एक ओर यदि पर्दोवाले पारसी रंगमंच का असर है तो दूसरी ओर पाँच अंकों में पारंपरिक पाँचों कार्यावस्थाओं की योजना के कारण संस्कृत के नाट्य-शास्त्र का प्रभाव भी स्पष्ट दीख पड़ता है। 'कथा गायन' में शास्त्रीय नाटक के 'सूत्रधार', लोक-नाटक की 'गायक मंडली' तथा ब्रेख्त के 'नैरेटर' के साथ-साथ ग्रीक 'कोरस' की झलक भी साफतौर से देखी जा सकती है।

इस नाटक के प्रायः प्रत्येक अंक के आरंभ और अंत में कथा-गायन की योजना है, परन्तु दृश्य परिवर्तन अथवा किसी अन्य प्रयोजन से पहले, चौथे और पाँचवें अंकों तथा 'समापन' के मध्य में भी कथा-गायन रखा गया है। इसके विपरीत, तीसरे और पाँचवें अंकों का समापन कथा-गायन से नहीं होता। 'स्थापना' तथा 'अंतराल' में भी कथा-गायन नहीं है। गंभीरता से विचार करने पर पता चलता है कि जहाँ कहीं (अंक के आरंभ अथवा अंत में) कथा-गायन नहीं है, वहाँ या तो नाटककार ने एकरसता तोड़ने के लिए इसके स्थानापन्न किसी अन्य साधन-जैसे प्रहरी (पाँचवें अंक में) या वृद्ध-याचक (अंतराल में) का उपयोग किया है अथवा नाटकीय उत्तेजना को एक निश्चित रूप देने के लिए तनावक्षण पर ही अंक समाप्त कर दिया है- जैसे तीसरे अंक के अंत में। 'स्थापना' में कथा-गायन के स्थान पर नेपथ्य से उद्घोषणा तथा मंच पर नर्तक के मूकाभिनय द्वारा मंगलाचरण की योजना की गई है। एक ओर यदि कथा-गायन के ये अंश अपनी गेयता के कारण नाटक में काव्य-रस और शब्द-संगीत की अजस्र धारा बहाते हैं तो दूसरी ओर नाटकीय कार्य-व्यापार की तीव्रता को खंडित भी करते हैं। पर्दोवाले मंच को कल्पना के कारण नाटककार ने कथागायन का उपयोग प्रायः वातावरण की सृष्टि करने के उद्देश्य से किया है और यही कारण है कि यथार्थवादी (वस्तु-संग्रही) मंच पर इसके अनेक अंश निरर्थक और दृश्य की पुनरावृत्ति होने के कारण उबाऊ लगते हैं। इसके

अतिरिक्त, कथागायन का इस्तेमाल भारती ने पात्रों के अंतर्मन को उद्घाटित करने, मंच से बाहर घटित कार्यों की सूचना देने, घटनाओं की व्याख्या करने तथा कार्य-व्यापार की श्रृंखला को जोड़ने के लिए भी किया है। परन्तु इन्हीं सब उद्देश्यों की पूर्ति के लिए नाटककार ने 'प्रहरी' और 'वृद्ध याचक' की भी सृष्टि की है। फर्क इतना है कि वे 'कथा-गायन' की तरह मुख्य नाटकीय कार्य व्यापार से बिल्कुल कटे हुए नहीं हैं। वे नाटक के पात्र हैं- विशेष रूप से वृद्धयाचक- और उनकी भूमिका नाटक से प्रत्यक्ष संबंध रखती है। फिर भी, कुल मिलाकर कथा-गायन, याचक और प्रहरियों की भूमिका में काफी दूर तक मूलभूत समानता होने से नाटक के कसाव में कमी आई है और बार-बार की पुनरुक्ति से ऊब पैदा होती है। इसीलिए 1964 से तालकटोरा-खण्डहर वाले प्रदर्शन में अल्काजी ने 'कथागायन' के अनेक अंशों को काटकर नाटक की संरचना को कस दिया था जबकि 1974 के पुराना किला वाले प्रदर्शन में कथागायक (कोरस) पर अत्यधिक बल देने और उन्हें ज्यों का त्यों प्रस्तुत करने की धुन ने नाटक की गति को शिथिल कर दिया।

'अंधायुग' की कथावस्तु प्रख्यात है और इसका आधार महाभारत है। और बहुत दूर तक इसका वस्तु-संघटन तथा रंग-विधान भी महाभारत की कथा शैली और वक्ता-श्रोता पद्धति से ही प्रभावित प्रतीत होता है। भारती ने महाभारत के शल्प-पर्व, सौप्तिक पर्व, स्त्री पर्व, शांति पर्व, मौसल पर्व, आश्रमवासिक पर्व, महाप्रस्थानिक पर्व इत्यादि से कुछ तीव्र एवं नाटकीय घटनाओं, प्रसंगों तथा संदर्भों का चुनाव करके उन्हें अत्यंत प्रभावपूर्ण युक्तियों से संयोजित कर दिया है। कहीं सम और कहीं विषम प्रभाव वाले दृश्यों की समानांतर योजना है तो कहीं अनेक छोटे-छोटे दृश्यों के कोलाज से एक समन्वित प्रभाव उत्पन्न किया गया है। कहीं कथागायन या दो-तीन पात्रों के वार्तालाप में प्रस्तुत प्रसंग अथवा घटना की चित्रावली प्रस्तुत की गई है तो कहीं संजय की दिव्य-दृष्टि के प्रताप का नाटकीय उपयोग करते हुए रचनाकार ने प्रत्यक्ष और परोक्ष तथा वर्तमान और अतीत अथवा भविष्य के दृश्यों को साथ-साथ प्रस्तुत करके संकलन-त्रय की कृतिम बाधाओं पर विजय प्राप्त कर समग्र प्रभाव को सघन एवं तीव्र बना दिया है। घटना, चरित्र और संवाद के सभी धरातलों पर नाट्य-विडंबना का बहुविधि प्रयोग 'अंधायुग' की वस्तु-संरचना की एक अन्य महत्वपूर्ण विशेषता है।

पर्दों के विधान की दृष्टि से आकस्मिकता प्रधान पारसी थियेटर से प्रभावित होने के बावजूद भारती ने दर्शक को झटका (शॉक) देने की पद्धति को पूर्णतः अस्वीकार किया है। रचनाकार, ठीक ब्रेख़्त की तरह 'कथा-गायन', 'प्रहरी' या 'वृद्ध याचक' के द्वारा भावी घटना अथवा प्रसंग का विवरण या पूर्व-संकेत अपने पाठक-दर्शक को पहले ही देकर उसे मानसिक रूप से तैयार करके तब मुख्य दृश्य को प्रस्तुत करता है। इसलिए तथ्यात्मक दृष्टि से सही होने के बावजूद तात्विक दृष्टि से यह कहना उचित नहीं है कि ''उसमें जितना संगठन है वह केवल प्रबंध-काव्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करता है। 'या' नाटककार बार-बार प्रबंधकाव्य की कथन-शैली और कलात्मक संगठन के नियमों को अपनाने लगता है।'' दरअसल, 'अंधायुग' की वस्तु-संरचना में विभिन्न नाटक परंपराओं से उद्भूत एक अभिनव मिश्र प्रयोग हुआ है जो रचनाकार की मौलिकता तथा प्रतिभा का प्रमाण है।

संरचना की दृष्टि से किसी भी नाटक में 'उद्घाटन' का सर्वाधिक महत्व होता है और ब्रैंडर मैथ्यूज के मतानुसार, ''अन्य कलाओं की भाँति नाटक में भी सरलता सबसे अच्छी नीति है, और वही उद्घाटन सबसे अधिक संतोषजनक होता है, जो सबसे सरल, द्रुत और स्पष्ट हो।'' 'अंधायुग' में 'उद्घाटन' के लिए रचनाकार ने दो एक अत्यन्त पुरानी नाट्य-युक्तियों का ग्रहण करते हुए दो प्रहरियों तथा लंबे स्वगत कथनों का प्रयोग किया है। 'कथा-गायन' के सामान्य वक्तव्य के बाद प्रहरियों के वार्तालाप से हमें अतीत की घटनाओं के संकेत देकर नाटककार धृतराष्ट्र-विदुर और गांधारी के संवादों से नाट्य-कथा को वर्तमान से जोड़ देता है। पिछली घटनाओं के अनेक महत्वपूर्ण संदर्भों को अन्य पात्रों के माध्यम से यथासमय प्रस्तुत करके वह उद्घाटन को रोचक और प्रभावपूर्ण बनाता है।

निर्देशन
रामगोपाल
बजाज
एन.एस.डी.
1992

रंगभूमि पर रौशनी के हस्ताक्षर

कीर्ति शर्मा

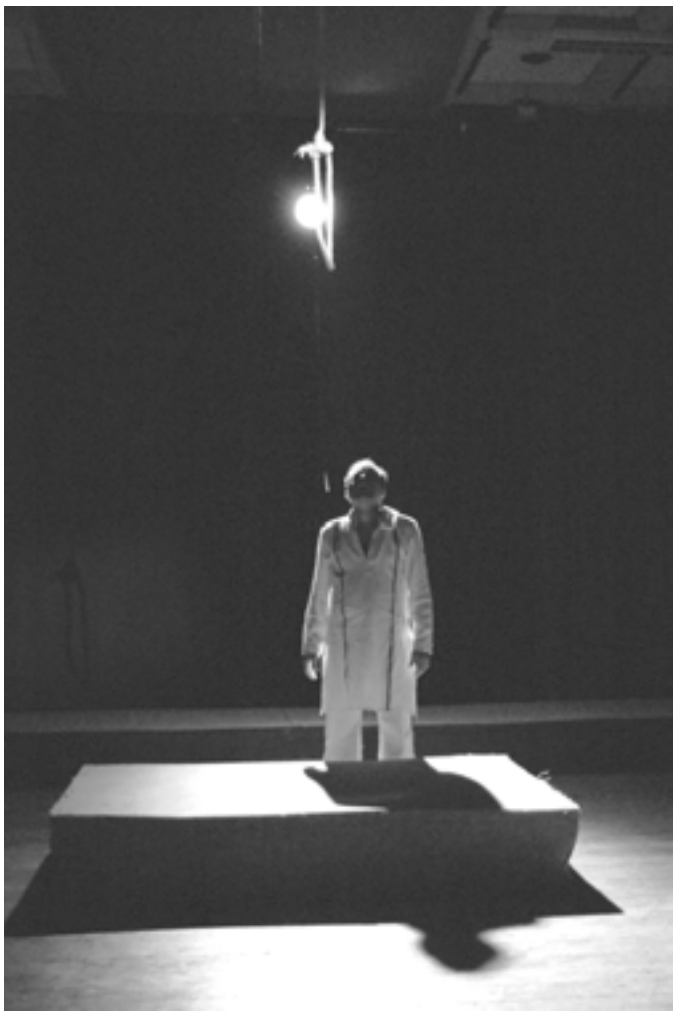

एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत, लड़के का कटी तस्वीर को बड़े-बड़े टुकड़ों में कतरना, अंधेरे के साथ-साथ संगीत का रुकना और कैची की चक-चक सुनायी देना। हल्का मातमी संगीत उभरता है....। तभी लगभग अंधेरे में लड़के की बाँह थामे एक पुरुष की धुंधली आकृति अंदर आती दिखायी पड़ती है। उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है।

नाटकों के रंग शिल्प में संगीत, लय एवं प्रकाश योजना का बहुत महत्व है। ये तत्व नाटकों के प्रभाव में सहयोग देते हैं। इन्हें हिन्दी नाटकों की विकास यात्रा में बहुत पहले से प्रयोग में लाया जा रहा है। नाटककार आज नाटक के संपूर्ण कलेवर के अनुरूप संगीत योजना कर रहे हैं। आधुनिक नाटकों में यही संगीत योजना सफल हो सकती है। संगीत लय का प्रयोग नाटक की सफलता और लोकप्रियता का प्रमुख तत्व बन गया है। इसी प्रकार नाटकों में प्रकाश योजना नई अनुभूतियों का आभास कराने में समर्थ हो गयी है। इसके द्वारा वातावरण निर्माण, अभिनय की स्वाभाविकता स्पष्ट हो जाती है। आधुनिक परिवेश और साहित्य दोनों में विचारधाराएं अधिक संवेदनशील होती जा रही हैं। अतः व्यक्ति के परिवर्तित विचार तथा चिंतन को नाटक में मूलभाव तथा अर्थ के माध्यम से व्यक्त किया जा रहा है। यह अभिव्यक्ति नाटकों में संगीत एवं प्रकाश योजना द्वारा हो रही है।

भारतेन्दु तथा प्रसाद ने नाटकों में संगीत योजना की अनिवार्यता को बनाये रखा। उन्होंने संगीत के अंतर्गत शास्त्रीय दृष्टिकोण को महत्ता देने की परंपरा बनायी। नाटक में गीत-संगीत द्वारा संवादों की योजना की जाती थी। इनके नाटकों में अभिनय की सरसता, भावों की अभिव्यक्ति, वातावरण की सजीवता तथा पटाक्षेप के समय संगीत-योजना का प्रयोग किया जाता था। प्रसादोत्तर काल में नाटकों में संगीत योजना के क्रियान्वयन में परिवर्तन हुआ।

हरिकृष्ण प्रेमी, सेठ गोविन्ददास इत्यादि नाटककारों की कृतियों में संगीत योजना वातावरण निर्माण से जुड़ गयी। नाटक के लेखन में गीतों को स्थान न देकर नाटक के बाहर चरित्रों के भाव निर्माण तथा मंचन के समय नेपथ्य में संगीत का प्रयोग किया जाने लगा। आधुनिक अधिकांश नाटकों में संगीत का प्रयोग नेपथ्य में किया जाता है। संगीत योजना की यह शैली वातावरण निर्माण में सहायक हुई है। आधुनिक नाटककार स्वयं ही संगीत और संवादों की लय का संकेत कर देते हैं। इस दृष्टि से आधे-अधूरे उल्लेखनीय है। एक खण्डहर की आत्मा को व्यक्त करता हल्का संगीत, लड़के का कटी तस्वीर को बड़े-बड़े टुकड़ों में कतरना, अंधेरे के साथ-साथ संगीत का रुकना और कैची की चक-चक सुनायी देना। हल्का मातमी संगीत उभरता है....। तभी लगभग अंधेरे में लड़के की बाँह थामे एक पुरुष की धुंधली आकृति अंदर आती दिखायी पड़ती है। उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है। मोहन राकेश के नाटक आधे अधूरे की यह संगीत योजना घर के विघटन, पात्रों की विवशता तथा संत्रास्य के भाव स्पष्ट करती है।

प्रकाश योजना वास्तविक जगत की सच्चाई तथा परलोक की कल्पना को साकार करती है।

घनश्याम शर्मा

'अंधा युग' (धर्मवीर भारती) तथा 'अग्निलीक' (भारत भूषण अग्रवाल) नाटक संगीत और लय की महत्ता के प्रमाण हैं। इन काव्य नाटकों में संवादों की लय और संगीत पक्ष का योगदान है। ये वस्तुतः संगीत नाटक ही है। अंधायुग में प्रत्येक अंक में कथा गायन की योजना है इसके अतिरिक्त 'वन में सियारों का रुदन, पशुओं के भयानक स्वर बढ़ते जाते हैं। सहसा कर्कश कौवे का स्वर फिर तेज होता है..... भयानक कोलाहल चीत्कार इत्यादि गीति-संवादों से वातावरण की क्रूरता का आभास मिलता है। प्राचीन समय के नाटकों में संगीत का अर्थ तथा प्रयोग व्यापक था। क्योंकि नाटक और अभिनय संगीत के अंतर्गत आते थे। आधुनिक नाटकों में संगीत और लय रंगशिल्प का एक अंग बनकर आया है। नाटककार नाटक के पात्रों की मनःस्थिति और वातावरण के अनुसार संगीत का आयोजन नाटक के बीच भी करता है। इसी तरह विजय तेंडुलकर के 'घासीराम कोतवाल', गिरीश कर्नाड के 'तुगलक' तथा सतीश आलेकर के 'महानिर्वाण' नाटक का मुआयना किया जा सकता है।

हिन्दी नाटकों के रंगशिल्प में प्रकाश योजना का महत्व एवं प्रयोग प्राचीन समय से ही है। भारतेन्दु के नाटक भारत जननी तथा भारत दुर्दशा में प्रकाश योजना संबंधी पर्याप्त संकेत हैं। विभिन्न रंगों की प्रकाश ज्योति तथा दीपों के प्रयोग से वातावरण सृष्टि के संकेत दिये हैं। प्रसादोत्तर काल में रंगशिल्प के अंतर्गत नये प्रयोगों का प्रचलन बढ़ गया था। डॉ. लक्ष्मीनारायण मिश्र, अश्क, सेठ गोविन्ददास, उदयशंकर भट्ट इत्यादि नाटककारों ने प्रतीकात्मक रूप में वातावरण की सृष्टि के लिये प्रकाश योजना का प्रयोग किया।

आधुनिक युग में नई तकनीक के विकास के कारण रंगमंच पर प्रकाश योजना की व्यवस्था का विकास हुआ। विभिन्न तत्वों के साथ प्रकाश योजना का संतुलित प्रयोग रंगमंच पर थोड़े समय में ज्यादा प्रभाव डालने में सफल हुआ। आधुनिक नाटकों में जीवन के रूप तथा समस्याओं का चित्रण किया जा रहा है इस दृष्टि से नाटक के मुख्य कथ्य को प्रमुखता देते हुए नाटककार प्रकाश योजना के पूर्ण संकेत रंगमंचीय नाटकों में देते हैं। रंगमंच योजना के पूर्ण संकेत रंगमंचीय नाटकों में देते हैं। रंगमंच पर प्रकाश योजना के प्रयोग के विभिन्न उद्देश्य हो सकते हैं जैसे वातावरण निर्माण, नाटकीयता के प्रभाव, मंचन के समय वेशभूषा, सामग्री तथा घटनाओं के स्पष्टीकरण, नाटक के मूल कथ्य की अभिव्यक्ति, पात्रों की भाव दशा के प्रदर्शन तथा दृश्यबंध के एक स्थल पर प्रकाश डालकर पर्दा उठाने गिराने की समस्या का निदान इत्यादि।

'हानुश' (भीष्म साहनी) में की गयी प्रकाश योजना पात्र हानुश की गतिविधियों के उद्देश्य को सार्थक करती है ''देर तक प्रकाश वृत्त में हानुश की झुकी पीठ नजर आती रहती है। दो एक बार वह पसीना पोंछता है, फिर काम में खो जाता है। उसके पास खड़ा बूढ़ा लोहार उसे औजार देता रहता है। (फेड आउट) फेड आन होने पर फिर से रोशनी हानुश की पीठ पर पड़ रही है।''

'तुगलक' (गिरीश कर्नाड) की प्रकाश योजना तुगलक के चरित्र की क्रूरता तथा आतंकपूर्ण वातावरण को स्पष्ट करती है। ''तुगलक के चेहरे पर तेज रोशनी बनी रहती है। मानों वह मंच पर होने वाली घटनाओं से बेखबर अपनी नमाज़ में तल्लीन है। नमाज़ खत्म होने पर तुगलक शहाबुद्दीन की हत्या करता है। आगे बढ़कर मंच के मध्य में चौकी पर आ जाता है और घोषणा करता है ''सारी दिल्ली वीरान बन जाय''। इन पंक्तियों के समय उसके पीछे लाल गगनिका है, आकाशी गलियारे में मद्धिम क्रास लाइट है।''

अंधायुग (धर्मवीर भारती) की प्रकाश योजना पात्रों के भाव एवं दृश्य को स्वाभाविक बनाती है। ''धीरे-धीरे स्टेज पर अंधेरा होने लगता है। केवल अश्वत्थामा के टहलते हुए आकार का भास होता है। ...एक प्रकाश अश्वत्थामा पर भी पड़ता है, जो स्तब्ध कौतुहल से इस घटना को देख रहा है। ...बिल्कुल अंधेरा, फिर प्रकाश। ...प्रकाश होता है, अश्वत्थामा रक्त सना कटा पंख हाथ में लिये उछल रहा है। ...वृद्ध याचक प्रवेश करता है। स्टेज पर मकड़ी के जाले जैसी प्रकाश रेखाएँ और कुछ कुछ प्रेतलोक सा वातावरण।''

खामोश अदालत जारी है (विजय तेंडुलकर) में न्यायालय के दृश्य के अंतर्गत कुमारी बेणारे को सजा सुनाने के कुछ क्षण पूर्व कुछ कहने के लिये समय दिया जाता है इस समय बेणारे की बेजान एवं अर्द्धमृत स्थिति का आभास बदलती हुयी प्रकाश योजना से ही होता है।

आधे अधूरे रंगशिल्प के प्रयोग की दृष्टि से उत्कृष्ट नाटक है। ''प्रकाश खण्डित होकर स्त्री और बड़ी लड़की तक सीमित रह जाता है... हल्का मातमी संगीत उभरता है, जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने लगता है, जिसके साथ उन दोनों पर भी प्रकाश मद्धिम पड़ने लगता है। लड़का (जैसे भरे गले से) देखकर डैडी देखकर। उन दोनों के आगे बढ़ने के साथ संगीत अधिक स्पष्ट और अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है। ...प्रकाश आकृतियों पर अंधेरा अधिक गहरा होता जाता है। ...प्रकाश आकृतियों पर धुंधला कर कमरे के अलग-अलग कोनों में सिमटता विलीन होता हुआ।'' यह प्रकाश योजना विघटन की भयानकता एवं पात्रों की विवशता को स्पष्ट करती है।

नई तकनीक के विकास के कारण रंगमंच पर प्रकाश योजना में भी परिवर्तन आया है। विभिन्न तत्वों के साथ प्रकाश योजना का संतुलित प्रयोग रंगमंच पर थोड़े समय में ज्यादा प्रभाव डालने में सफल हुआ।

कर्फ्यू (डॉ. लाल) में की गयी प्रकाश योजना दर्शक वर्ग को बाँधे रखने तथा कुछ सोचने के लिये आकर्षित करती है। इसकी प्रकाश योजना नाटक के वक्तव्य, दृश्य के भाव, घटना की वक्रता तथा दृश्यांतर को उभारने में सफल हुयी है।

गिनीपिंग (मोहित चट्टोपाध्याय) इस दृष्टि से उल्लेखनीय नाटक है। इसमें नाटक के आगे बढ़ने एवं अभिनय के गतिशील होने के अनुसार, प्रकाश निर्धारित किया गया था। नाटक के अंतिम दृश्य, प्रकाश निर्धारित किया गया था। नाटक के अंतिम दृश्य में सिंहासन के चारों ओर फैले प्रकाश को कम करते हुए केवल एक सफेद प्रकाश छोड़ा जाता है जो धीरे-धीरे लाल होता जाता है। गिनीपिंग में की गयी यह प्रकाश योजना अपूर्व दृश्य उपस्थित करती है।

बाकी इतिहास (बादल सरकार) की प्रकाश योजना रंगशिल्प में नया प्रयोग है। अंतिम दृश्य में मंच पर फैले अंधेरे में आत्महत्या करने वाला पात्र दीवार के सामने खड़ा है। नीले प्रकाश में उसकी छाया दिखाई देती है। जब पात्र प्रकाश के मध्य आते हैं तभी प्रकाश की मौजूदगी का अहसास होता है। अन्यथा प्रकाश केवल आसमान लगता है। इस प्रकार की प्रकाश योजना वास्तविक जगत की सच्चाई तथा परलोक की कल्पना को साकार करती है।

फ्यूज़न यानि दो भिन्न-भिन्न कलाओं का संयोग और सम्मिश्रण

सृजनशीलता के इस व्यापक पटल पर प्रयोगधर्मिता एक अनिवार्य पथ है और इसी प्रक्रिया के तहत संस्कृतियाँ अनंत की यात्रा करती हैं। इसी प्रयोगधर्मिता से उत्तर-दक्षिण भारतीय नृत्य शैलियाँ एक-दूसरे की हो गयीं।

ऋतु पवार

घनश्याम शर्मा

प्रयोग का नया फलसफा

विशुद्ध प्रयोगों से ही संगीत को नित नवीन एवं जीवंत बनाये रखा जा सकता है और इसकी सूक्ष्मता एवं गंभीरता को व्यापक रूप से प्रसारित किया जा सकता है। संगीत, संस्कृति का अत्यंत संवेदनशील पहलू है। संगीत, संस्कृति की गंभीरता व व्यापकता में सुबोध सरसता का सृजन करता है। एक मधुर रंग घोलता है, सुंदर स्वर लहरियों के वितान से संस्कृति के तारों को जोड़ता है। संस्कृति एक सृष्टि है तो संगीत सृजन का महासागर है। सृजनशीलता के इस व्यापक पटल पर प्रयोगधर्मिता एक अनिवार्य पथ है और इसी प्रक्रिया के तहत संस्कृतियाँ अनंत की यात्रा करती हैं। इसी प्रयोगधर्मिता से उत्तर-दक्षिण भारतीय नृत्य शैलियाँ एक-दूसरे की हो गयीं। इसी के तहत टप्पा, चैती, कजरी जैसी लोकधारायें शास्त्रीय संगीत के महासागर में समाहित हो गयी उन्हें पहचान मिली।

फ्यूज़न का तात्पर्य है- दो भिन्न-भिन्न कलाओं का संयोग एवं सम्मिश्रण। इससे महान कलाएँ, उत्कृष्ट संगीत एवं श्रेष्ठ नृत्य पैदा हुये हैं। इसी प्रक्रिया के तहत हारमोनियम जैसा विदेशी वाद्य भारतीय संगीत का अटूट हिस्सा हो गया है। संगीत के अन्य उपकरण जैसे गिटार, पियानों तथा अनेक तंतु वाद्य, ड्रम आदि अन्य वाद्ययंत्र भारतीय संगीत के अभिन्न अंग बन चुके हैं। संगीत को इन विदेशी उपकरणों के साथ परिभाषित किया जाने लगा है। ठीक यही प्रभाव गायन शैली पर भी पड़ा है। आधुनिक संगीतकारों के अनुसार सारी हिन्दी फिल्मों के पार्श्व संगीत की बुनियाद ही फ्यूज़न पर आधारित है। गायन की इन शैलियों में पाश्चात्य शैली के संयोग को केवल नकारात्मक ढंग से ही नहीं देखा जा सकता, बल्कि इस प्रक्रिया से संगीत की एक नई परंपरा विकसित हुई है।

आधुनिक भारतीय नृत्य संसार की पटकथा उदयशंकर ने लिखी जिन्होंने अन्नापाहलावा के साथ मिलकर नई नृत्य शैलियाँ विकसित कीं। नृत्य की ऐसी भावभंगिमा है, जो बिना बोले मुद्राओं के माध्यम से अपने भाव को अभिव्यक्त करता है। यह भावाभिव्यक्ति और प्रभावी हो

तथा वर्तमान समय के अधिक अनुकूल हो इसलिए फ्यूज़न महत्वपूर्ण भूमिका अदा करता है। इससे नृत्य संसार में संस्कृति के अर्थ को नया आयाम मिला तथा इसकी सीमाएं दिगंतव्यापी हुईं। नृत्य के विभिन्न रूपों को एक दूसरे से जोड़ने में उदयशंकर के इन प्रयोगों से नृत्य के कई पहलू उजागर हुए।

फ्यूज़न से नृत्य का कला मंच अधिक प्रभावोत्पादक हुआ है। आधुनिकता के इस दौर में अधिकतर दो अलग नृत्य शैलियों की फ्यूजन प्रस्तुतियों में लयात्मक गतियों को जोड़ने एवं मिलाने को आधार बनाया गया है। हालाँकि अंग-संचालन, हस्त मुद्राओं और नृत्य के भाव-संवादों में कोई विशेष मेल-मिलाप संभव नहीं हो सकता, परंतु फिर भी इसी तरह के प्रयोगों में बनी नृत्य की जुगलबंदियों और नृत्य संरचनाओं में कलाकार के कौशल और सामर्थ्य की बानगी मिलती है। उनकी प्रस्तुति में रचनात्मक ऊर्जा को फ्यूज़न में ढालने का अद्‌भुत प्रयास झलकता है। प्राचीन परंपराओं की बहुरंगी शैली को आधुनिक ढंग से पेश करने में फ्यूज़न ने महान योगदान दिया है। संगीत की जिन विधाओं को कल तक एक अजीब अंदाज़ से देखा जाता है, आज उन्हीं का आधुनिकीकरण अत्यंत लोकप्रिय सिद्ध हुआ है। वस्तुतः संगीत की प्राचीन शैलियों में निहित प्रतीकात्मक भाव गूढ़ एवं गंभीर होते हैं। उन्हें सरल, लोक लुभावन एवं समसामयिक करने में फ्यूज़न ने कारगर भूमिका अदा की है।

फ्यूज़न से ही कथक और ओडिसी नृत्य की अनुशासनबद्ध लय और दोनों नृत्य शैलियों की विशेषताओं का संयोग करना संभव हो सकता है इस जुगलबंदी में नृत्य की गति को अपनी जादुई प्रस्तुति मिली है तथा यह अधिक जीवंत हुआ है। इस तरह प्रयोगों के माध्यम से दर्शकों को भावात्मक अनुभूति के ऊँचे स्तर तक ले जाने में अनेक नृत्य कलाकारों ने प्रयास किये हैं। पिछले कुछ वर्षों में नृत्य के क्षेत्र से विभिन्न शैलियों के फ्यूज़न की प्रस्तुति का जो क्रम आरंभ हुआ है उससे नृत्य का एक नया स्वरूप प्राप्त हुआ और उसकी प्रयोगात्मक गतिविधियों में भी विस्तार हुआ। दक्षिण भारत का भारतनाट्यम, कुचिपुड़ी कथकली व मोहिनी अट्टम पूर्वोत्तर भारत की कथक विभेदक नृत्य शैलियों को एकाकार करने में उल्लेखनीय क़दम उठाये गये हैं। इसका सार्थक परिणाम भी मिला है।

फ्यूज़न में भिन्न शैलियों का समागम है। इससे विभिन्न भारतीय नृत्य एवं संगीत की विभिन्न शैलियों का सम्मिश्रण हुआ। इसके साथ ही भारतीय संगीत का पाश्चात्य संगीत के संग फ्यूज़न का प्रचलन बढ़ा है। इसमें सबसे लोकप्रिय मानी जाती है, स्पेन के फ्लेमेंको और भारतीय नृत्य की जुगलबंदी। कुछ बिंदुओं पर इन दो शैलियों में काफी समानता है। दोनों नृत्य शैलियों में पैरों की थिरकन, लयकारी आदि का तौर तरीका काफी हद तक मिलता है। अलग सांस्कृतिक पहचान वाले दो देशों स्पेन और भारत के इन नृत्यों में समानता कैसी है, इसका तथ्य इतिहासविदों के गंभीर अनुसंधान से प्राप्त निष्कर्षों में मिलता है। मान्यता है कि किसी समय में खानाबदोश सुदूर देशों में गये। वहाँ के लोगों की संगीत परंपरा रीति-रिवाज भिन्न थे। अंदेशा कि उनके नृत्यों में कथक के तत्व मिल गये हों और इनके मिलने से संगीत की एक नयी शैली पैदा हुयी हो। आज के इस दौर में फ्लेमेंको और कथक के निकट आने से संगीत की एक नयी शैली का प्रादुर्भाव हुआ है और इससे भारत व स्पेन की संस्कृति में एक नया रिश्ता बना व प्रगाढ़ हो रहा है।

इसी प्रकार फ्रांस, ब्रिटेन, जर्मनी, हंगरी, पौलेण्ड आदि यूरोपीय देशों के संगीत के साथ भारतीय शास्त्रीय संगीत को लेकर फ्यूज़न का प्रचलन भी बढ़ा है। इसके लिए संगीत विशेषज्ञ इन देशों में संगीत के मूल में शास्त्रीय संगीत के सिद्धांतों की परख कर रहे हैं? आखिर इनके संगीत के उद्‌भव में कहीं भारतीय शास्त्रीय संगीत का योगदान तो नहीं है। यदि इनके संगीत में यह सिद्धांत मिलते हैं तो फ्यूज़न के निर्माण में आसानी होती है, न मिलने की स्थिति में सम्मिश्रण के विभिन्न पहलुओं को खोजना पड़ता है। इस प्रकार फ्यूज़न की इस आधुनिक परंपरा का यदि समुचित विकास संभव हो सके तो विभिन्न संस्कृतियों के बीच फिर से एक नया रिश्ता पनपने लगेगा, जो हमारी दूरियों को कम करेगा और नजदीकियाँ बढ़ेगी।

फ्यूज़न, संगीत के विकास में महत्वपूर्ण पक्ष है, परंतु आवश्यकता है कि शैलियों का संयोग समुचित ढंग से हो। ध्यान देना जरूरी है, कि कहीं इस सम्मिश्रण से दो शैलियों का मूलतत्व अथवा आत्मा तो नष्ट नहीं हो रही है। अगर, इससे संगीत की आत्मा ही मर जायेगी तो हम इससे विकास की आशा और अपेक्षा नहीं रख सकते।

दूसरी बात है कि फ्यूज़न को संकीर्ण व्यवसाय के रूप में दुरुपयोग करने से रोका जाये। अन्यथा इससे संगीत में अनावश्यक रूप से जोड़-तोड़ किये जाने का खतरा बना रह सकता है। फ्यूज़न एक कला बने। इससे संगीत के नये आयामों का विकास हो न कि कुत्सित वासना भड़काने का अस्त्र बने। फ्यूजन, संगीत के क्षेत्र में सृजनशील हो इसलिए सार्थक एवं सजग, प्रयासों की जरूरत है। यह विभिन्न संस्कृतियों के बीच रागात्मक और रचनात्मक रिश्ते का प्रतीक बने।

प्रवीण दीक्षित

निमाड़ का 'काठी'

●●●

कुँअर उदय सिंह 'अनुज'

लय-ताल में लीन होता लोक

म.प्र. के खरगोन, खण्डवा एवं बड़वानी जिलों के क्षेत्र को 'निमाड़' कहा जाता है। 'निमाड़ी' यहाँ की प्रमुख बोली तथा 'काठी' प्रतिनिधि लोकनाट्य है। बलाई जाति के नर्तक इस लोक नाट्य को करते हैं।

काठी नर्तक शिव भक्त होते हैं। इस नृत्य की कथावस्तु और पारम्परिक पूजन अनुष्ठान शिव-पार्वती से जुड़ा हुआ है। यह नृत्य देव प्रबोधिनी एकादशी से प्रारम्भ होता है तथा महाशिवरात्रि पर इसका समापन होता है। देवी पार्वती की पूजा के इस नृत्य में 'काठी' सजाई जाती है। बाँस के एक मीटर लम्बे टुकड़े के ऊपरी सिरे पर बेर की लकड़ी आड़ी बाँधकर इसे 'क्रास' का आकार दिया जाता है। जंगल से लकड़ी काटकर लाना और बाँधना यह कार्य विधि-विधान से पूजन द्वारा सम्पन्न किया जाता है। बाँस के ऊपरी सिरे पर सफेद कपड़े से मोर पंख बाँधकर मुकुट की तरह सजाया जाता है। 'क्रास' के आकार को सफेद कपड़े से लपेटकर बाहुओं का आकार दिया जाता है तथा लाल पीले वस्त्रों से इसकी सजावट की जाती है। कपड़े के एक छोर पर पैसा-सुपारी, कुमकुम चांवल बांधे जाते हैं इस सजी-धजी ध्वजा को 'काठी माता' कहा जाता है। इसे जमीन पर नहीं रखा जाता। बाँस को नीचे आधार देने के लिए लकड़ी के एक पहिए का उपयोग होता है।

काठी नर्तकों की वेशभूषा चित्ताकर्षक होती है। इस भूषा को 'वागा' कहते हैं। लाल रंग के लट्ठे के कपड़े को नीचे से घाघरे का आकार दिया जाता है। ऊपरी भाग, कमीज की पीठ पर सफेद कपड़े से चाँद-सूरज की आकृतियाँ सिली होती हैं। सामने बटन लगाने की जगह के आसपास सफेद कपड़े की सीधी पट्टी सिलकर इसे सजाया जाता है। घाघरे के घेर में भी कमर से नीचे की ओर तिकोने आकार की सफेद कपड़े की ये पट्टियाँ उस परिधान के सौन्दर्य को बढ़ा देती हैं। नर्तक गले में रंग-बिरंगी मालाएँ धारण करते हैं। सफेद कपड़े पर कौड़ियों को टाँककर पट्टा बनाया जाता है जिसे सजावट के लिए कमर के घेरे पर बाँधा जाता है। सर पर लाल पगड़ी पहनी जाती है। इसे सफेद दुपट्टे से दाढ़ी के नीचे से घुमाकर बाँधा जाता है ताकि नर्तक के गालों वाला हिस्सा ढँका रहे, साथ ही नृत्य के दौरान पगड़ी उछालकर गिरने न पावे। इस दुपट्टे को 'काठा' कहा जाता है। पगड़ी में रंग-बिरंगी कलगी बाँधी जाती है जो नाचते समय हिलती हुई नृत्य मुद्रा तथा नर्तक को अतिरिक्त आकर्षण प्रदान करती है, पगड़ी में सजावट के लिए चमकीला गोटा-किनारी लगाया जाता है। चेहरे पर हलका सा मेक-अप रहता है। ललाट पर चंदन-टीका, भौंह के ऊपर से आँखों के दोनों छोरों से नीचे उतरती हुई टिपकीदार रांगोली तथा गालों पर गोंद से चमक चिपकाई जाती है। बाहों में बाजू बंद बाँधा जाता है। आँखों में काजल, पैरों में घुँघरू, घाघरे के नीचे चूड़ीदार पायजामा, वेशभूषा के आवश्यक अंग हैं। 'वागा' धारण करने के पश्चात् जनेऊ जैसे 'सेली' पहनी जाती है। सेली में 'सिंगी' बाँधी जाती है जो कमर के पास लटकती रहती है। वह वेशभूषा प्रमुख नर्तक को बड़ा भगत तथा सहायक नर्तक को छोटा भगत कहा जाता है। सहायक नर्तक एक से अधिक हो सकते हैं।

इन प्रमुख तथा सहायक नर्तकों के अलावा दो व्यक्ति और होते हैं। एक, जो सजी-धजी काठी माता को उठाकर नर्तक दल के साथ चलता है। इसे 'रजाल्या' (सेवक) कहते हैं। दूसरा जो नृत्य के दौरान पीतल की थाली बजाता है, इसे 'खोरदार' कहा जाता है। ये

दोनों व्यक्ति नृत्य के दौरान गाये जाने वाले गीत की पंक्तियों को दोहराने तथा अर्थाने का काम भी करते हैं। इनकी वेशभूषा साधारण धोती-कुर्ता, पगड़ी-अंगोछा होती है। दल के सभी सदस्य नंगे पैर रहते हैं।

इस नृत्य का मुख्य वाद्य 'ढाक' है जो छोटी झुग्गी के आकार का होता है। इसे रस्सी से बाँधकर कमर तक लटका कर रखा जाता है ताकि आसानी से बजाया जा सके। ढाक पर चमड़ा चढ़ा होता है इसे मरसिंग नामक वृक्ष की एक ओर झुकी डंडी से बजाते हैं। 'ढाक' के सुर में सुर मिलाते हुए 'खोरदार' पीतल की थाली को तालबद्ध बजाता है और नृत्य गति पकड़ता है। पूर्ण चक्र, अर्द्ध चक्र के घेरों में नाचते हुए 'ढाक' के इशारे पर पीतल की थाली बजती है जो नृत्य को उड़ान प्रदान करती है। नर्तक दल रुकते हैं, गीत की पंक्तियाँ गाते हैं और पुनः नृत्य में लीन हो जाते हैं। इस बीच 'खोरदार' और 'रजाल्या' इन पंक्तियों को दोहराते हैं। 'ढाक' वाद्य गमक बदलता रहता है। यह निपुणता नर्तकदल के हाथों में होती है। 'ढाक' की ध्वनि की 'लय' के साथ पीतल की थाली की 'ताल' की जुगलबंदी के साथ नर्तकदल का पद-संचालन, घाघरे के घेर का हवा में लहराना, ऐसा समाँ बाँधते हैं कि पूछो मत।

काठी गीतों की कथावस्तु पौराणिक ऐतिहासिक होती है। इनमें चार लोक गाथाएँ प्रमुख हैं। राजा हरिश्चन्द्र, सुरिया जो महाजन, गोंडेण नार तथा भीलणों बाल-कथा। निमाड़ी बोली का ठेठपन काठी गीतों का प्राण है, सौन्दर्य है। निमाड़ी संस्कृति के विशेषज्ञ वसंत निरगुणे ने लिखा है कि- ''संत सिंगाजी ने जिस निमाड़ी का प्रयोग अपने पदों में किया है उससे कहीं अधिक ठेठ निमाड़ी काठी-प्रबंधों में प्राप्य है। काठी की निमाड़ी संत सिंगाजी (संवत् 1576 से 1616) से बहुत पहले की निमाड़ी है।''

यह दल गाँव-गाँव घर-घर जाकर मातृशक्ति पार्वती की पूजा स्तुति के गीत 'निमाड़ी बोली' में गाते हैं। बदले में ग्रामीण जन इन्हें अन्न-वस्त्र दान देते हैं जो इनकी जीविका का आधार होता है। देव प्रबोधनी एकादशी से प्रारम्भ होकर महाशिवरात्रि तक 4 माह चलने वाला यह पवित्र नृत्य अनुष्ठान पचमढ़ी के महादेव मंदिर में समाप्त होता है। सुविधा अनुसार नर्तक दल पचमढ़ी के अलावा बीजागढ़ महादेव, छिरवेल महादेव, चारुवा महादेव या बड़केश्वर महादेव में भी समापन करते रहे हैं। अगली देव प्रबोधनी एकादशी तक समापन पश्चात् 'वागा' उतार दिया जाता है। इन 4 माहों के अलावा बाकी समय में नर्तक दल मेहनत-मजदूरी करके जीवन-यापन करते हैं। बलाई जाति के ये नर्तक आर्थिक रूप से गरीब होते हैं। फिर भी आस्था की इस जोत को हजारों वर्षों से इन लोगों ने जलाए रखा है। भारत की समस्त सांस्कृतिक गतिविधियाँ कम पढ़े-लिखे, मेहनतकश लोगों की आस्था और समर्पण भाव के कारण ही जीवित हैं। सभी पर्वों, त्यौहारों, अनुष्ठानों की डोली इसी वर्ग के काँधों पर सजी है। इसमें विभिन्न जातियाँ शामिल हैं। हिन्दुस्तान का खाता-पीता, पढ़ा-लिखा आधुनिक समाज तो इसका दर्शक मात्र है, सहभागी नहीं।

काठी लोकनाट्य के नर्तक दल निमाड़ में अनेक गाँवों में फैले हुए हैं। इस लोक नाट्य को भोपाल, दिल्ली, अहमदाबाद तक व्यापक प्रतिष्ठा दिलाने में सुप्रसिद्ध लोक नर्तक स्व. पद्म शंकर, ग्राम-भाड़ली, जिला-खरगोन एक प्रमुख नाम है। इन्हें म.प्र. शासन द्वारा 'शिखर सम्मान' से सम्मानित किया गया था।

उपभोक्ता संस्कृति के इस समय में जबकि बाजार हमें लीलता जा रहा है, काठी लोक नाट्य के कलाकारों की ओर शासन द्वारा ध्यान देकर इस परम्परा को जीवित रखा जाना चाहिये। लोकगीत, लोकनाट्य, मांडणे, पर्व-त्यौहार यदि इन्हें हम बचा नहीं पाये तो हमारी पहचान नष्ट हो जायेगी। हम कितने ही आधुनिक हो जाएँ लेकिन इस अंधे समय की अंधी दौड़ में अपनी भारतीयता की पहचान को बचाये रखना, हम सभी की सामूहिक नैतिक जिम्मेदारी है।

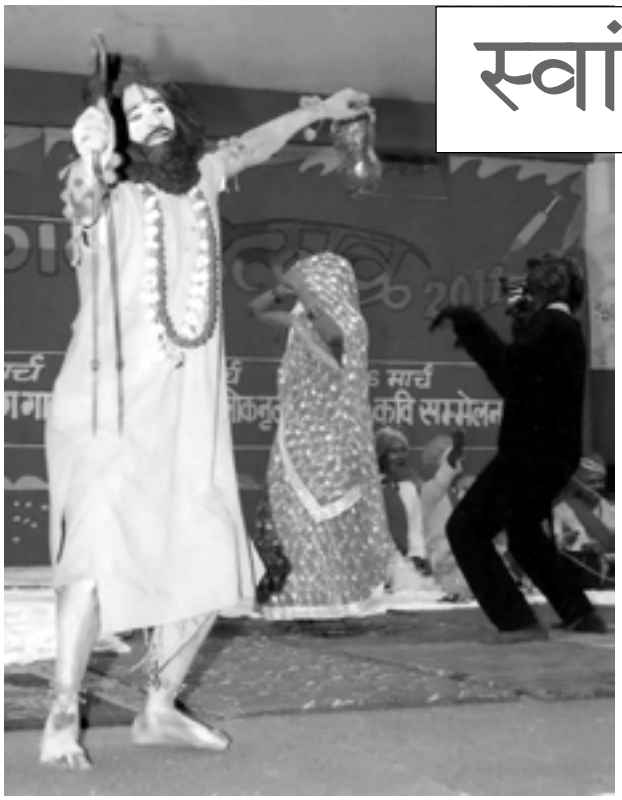

स्वांग

लोकरंजन की अनूठी विधा

विनोद मिश्र 'सुरमणि'

व्यवहारिक रूप से देखें तो शास्त्र की उत्पत्ति लोक से ही मानी जायेगी। लोक में व्याप्त सुर और शब्द ही शास्त्र के मूलाधार बने हैं। विद्वानों ने अपनी बौद्धिक क्षमताओं से भले ही परिभाषाओं को अलग-अलग रूपों में प्रस्तुत किया है परन्तु आदिकाल से लोक से प्राप्त मान्यताओं को झुठलाया नहीं जा सकता। सृष्टि की रचना में जब मनुष्य की उत्पत्ति हुई होगी तभी से लोक शब्द का भी प्रादुर्भाव हुआ होगा। स्वर्गलोक, परलोक, पाताललोक शब्दों का होना यह तय करता है कि लोक शब्द की प्राचीनता क्या हो सकती है।

आज के दौर में लोक को 'फोक' कहकर आधुनिक होने को हम ज्ञानी समझने लगे हैं। वास्तव में लोक का 'फोक' से किसी प्रकार का नाता नहीं है। अमेरिकी विद्वान जार्ज हरजोग ने अपने क्षेत्र की सांस्कृतिक और सामाजिक स्थितियों का सर्वेक्षण किया था इस सर्वेक्षण के साथ उन्हें उस क्षेत्र के लोगों की आर्थिक स्थितियाँ पारिवारिक और दिनचर्या की भौतिक भौगोलिक एवं मानवीय मूल्यों की स्थितियों का पता चला। जार्ज हरजोग का मानना था कि जो लोग सांस्कृतिक तो हैं परन्तु अव्यवस्थित उपेक्षित अस्वच्छित प्रवृति से रहने वाले हैं उनकी इस प्रकार की गतिविधियाँ फोक के रूप में कही जा सकती हैं और इन्हीं आधारों पर उन्हें फोक कहा गया। भारत के दृष्टिकोण से देखें तो यहाँ की जनजाति की भी अपनी मौलिक परम्परायें हैं। उनकी अपनी संस्कृति है, उनके संस्कार हैं। आज हम अपनी संस्कृति और संस्कारों पारंपरिक रीति रिवाजों को फोक कहकर उनके प्रति श्रद्धा रख रहे हैं या उन्हें अपमानित कर रहे हैं। कॉन्वेन्ट पद्धति से पढ़ने वाले छात्र-छात्रायें जब वार्षिकोत्सव में भाग लेते हैं तो फोक संगीत, फोक डांस में रुचि दिखाते हैं। परन्तु जब लोक संस्कारों के साथ जीवन जीने की बात आती है तो वह ग्रामीणता का उपेक्षित भाव रख कर उससे कन्नी काटते नज़र आते हैं।

दरअसल यह उनकी गलती नहीं है। यह गलती हम सभी की है। हम अपने बच्चों को आधुनिक बनने की इच्छा शक्ति बढ़ाते हैं। प्रगति और विकास की आवश्यकता है परन्तु संस्कार विहीन विकास जल्दी ही पतन का मार्ग दिखाता है।

बुन्देलखण्ड क्षेत्र कला संस्कृति का धनाढ्य क्षेत्र है। अन्य प्रान्तों की क्षेत्रीय संस्कृति की तरह यहाँ की भी अपनी मौलिक परम्परायें हैं, सांस्कृतिक धरोहर है। यहाँ पर लोक परम्पराओं में लोक गायन, लोकगीत आदि का भण्डार सदैव रहा है। यहाँ की प्रवृत्ति में सुरताल लय का समावेश उसी तरह से है जैसे कि फूलों में खुशबू, झरनों में नाद, हवाओं में खुशबू और निनाद को विस्तार करने की क्षमता। परन्तु कुछ लोक विधायें अपना अस्तित्व खोती जा रही हैं। आने वाले दिनों में या तो वह पुस्तकों में प्रकाशित होकर पुस्तकालयों की शोभा बढ़ायेंगी या फिर संग्रहालयों में शोधार्थियों तथा दर्शनार्थियों के लिये प्रेरक बनेगी।

फाल्गुन माह में बुन्देलखण्ड क्षेत्र में 'स्वांग' की अपनी मौलिक परम्परा नहीं है जो होली की परमा (प्रथम तिथि) से लेकर पंचमी यानि रंग पंचमी तक चलती थी। पाँच दिवसों तक स्वाभाविक रूप से आयोजित एवं प्रस्तुत किये जाने वाला स्वांग बिना संसाधनों एवं सहयोग के प्रभावी रूप से किये जाते रहे हैं। स्वांग से सीधा अर्थ अपने में किसी अन्य स्वरूप को धारण करना है। मूलतः स्वांग लोक नाट्य का एक वह रूप है जिससे यह कहने में संकोच नहीं होगा कि लोकनाट्य का प्रादुर्भाव स्वांग से ही हुआ है।

देशों के अनेक हिस्सों में लोकनाट्य की जो भी परम्परायें हैं उनका मूलाधार पुराणिक कथानक या पुराणिक पात्रों का प्रस्तुतिकरण ही होता है और ऐसे प्रसंग ही प्राचीनता को दर्शाते हैं क्योंकि समय के साथ ही विचारों में परिवर्तन आता है। समाज में विस्तार से ही स्वरूप बदलते हैं। हम जब पुराणों वेदों एवं धर्म ग्रंथों के प्रति ही आश्वस्त थे। उन्हीं के मार्गदर्शन में हमारा मार्ग प्रशस्त होता था तो स्वाभाविक है हमारे मनोरंजन के साधनों के विषय भी यही रहे होंगे। आज भी हमारी मान्यतायें हमारे वेद पुराण ही हैं परन्तु समय के दौर में आये परिवर्तन ने हमारे ज्ञान और मनोरंजन में समसामयिकता भी रखी है।

बुन्देलखण्ड के स्वांग को स्वांग सवारी कहते हैं। ये इन्हीं दोनों शब्दों से मिलकर बना है। स्वांग में गायन, वादन, नृत्य एवं अभिनव का समावेश होता है। स्वांग से आशय किसी अन्य स्वरूप को धारण करना है। गायन द्वारा प्रस्तुतिकरण करना है स्वांग में गायन को प्राथमिकता होती है। सवारी में अभिनव का प्रयोग होता है। सवारी से तात्पर्य उसी पात्र का स्वाभाविक स्वरूप आ जाना है। जैसे कि शिव

का स्वांग रचने वाला अभिनयकर्ता ताण्डव नृत्य करते हुये राक्षसों का वध करता है। बुन्देलखण्ड के स्वांग की तरह ही राजस्थान में मांड कलाड़ी, बृज में भगत नाच, मालवा में माच, पूर्वांचल में नाच आदि भी गायन के साथ अभिनय करने की विधायें प्रचलित है। आज इन लोक विधाओं से अभिनय विलुप्त होने लगा और गायन मात्र रह गया है जैसे राजस्थान में मांड कलाड़ी से गायन माड़ रह गया, स्वांग सवारी से गायन स्वांग रह गया। प्रारंभ से स्वांग को पुरुष वर्ग ही करता आ रहा है। महिलाओं में यह विधा शादी विवाह में लड़के की बारात चली जाने के बाद किये जाने वाला अभिनयात्मक नृत्य, गायन, 'जुगिया' है। जिसमें महिलायें स्वतंत्र एवं स्वछंद होकर पुरुष एवं स्त्री के संबंधों को लेकर नृत्य गायन अभिनय के साथ प्रस्तुत करती हैं। जो नाट्य का स्रोत माना जा सकता है। डाकू, पण्डित, पति, ससुर नेता पुलिस वाला आदि स्वरूप धारण कर वह फुर्सत के क्षणों में आनंद लेती है और आपस में मनोरंजन करती है। यहाँ यह टिप्पणी करनी आवश्यक होगी कि नव युवतियों में महिला-पुरुष के आन्तरिक संबंध लिये सरकारें भागी-भागी फिरती हैं और यौन शिक्षा लागू करने पर लाखों का बजट लाने को तैयार रहती हैं। हमें सहजता में 'नकल' की प्राचीन विधा प्राप्त रही है। हो सकता है भारत के कई क्षेत्रों में यह आज भी हो परन्तु हमारे क्षेत्र में देखने-सुनने को कम ही मिलती है। घर-परिवार के मांगलिक उत्सवों, आयोजनों कार्यों के बाद फुर्सत के क्षणों का उपयोग नकल के द्वारा किया जाता था जिसका मूल भाव मनोरंजन करना एवं समाज को दिशा देना ही हुआ करता था। समाज के किसी भी पात्र को, घटनाक्रम को, संवाद और अभिनव की कुशलता से वे प्रभावी प्रस्तुत करते जिससे मनोरंजन के साथ जन जागृति भी आती थी।

स्वांग और नकल दोनों के आयोजनों एवं प्रस्तुति करण के आधार पर यह कहना उचित भी हो सकता है कि वर्तमान में नुक्कड़ नाटक जो समाज को जागृत करने का एक सशक्त माध्यम बन गया है उसकी परिकल्पना इन दो विधाओं से की गई हो इनसे ही इसका आधार लिया गया हो। बहरहाल तीन-चार दशक से अतिसक्रिय नुक्कड़ नाटक का अपना प्रभाव है परन्तु हमें यह कहने में भी संकोच नहीं होगा कि हमारे यहां पूर्व से इस प्रकार के माध्यम जनजागृति के लिये रहे हैं। प्रस्तुतिकरण की टोलियों में भले ही अंतर हो।

स्वांग का प्रारम्भ एक टोली के रूप में होता है जिसमें एक समूह गायन एवं वादन करने वाले का होता है तो दूसरा समूह अभिनय करने वालों का जो विभिन्न स्वरूपों को धारण करते हैं। गायन की शुरुआत 'साकी' दोहा या उड़ान से होती है। पूर्व में मृदंग, कसावरी, कींगडी, ढप वाद्ययंत्रों का उपयोग होता था फिर हारमोनियम, ढोलक व नागड़ियाँ आदि से भी प्रस्तुतिकरण किये जाने लगा। रमतूला वादक पीछे-पीछे अपना वादन करता हुआ नृत्य करता है। स्वांग में दतिया की पारंपरिक लेद गायन फाग गायन चौकड़िया नगडियाऊ फाग का प्रयोग होने लगा। यहां का लांगी नृत्य स्वांग के साथ प्रयोग किये जाने लगा। स्वांग के प्रमुख पात्रों में गणेश नादीया (डूढावैल) इन्द्रदेव, भगवान शंकर व भवानी अनिवार्य रूप से रखे जाते थे। फिर समसामयिक कथानकों के आधार पर डाकू, नेता, सेठ, पागल पात्रों का प्रवेश होता था। लांगी नृत्य के माध्यम से मदारी द्वारा बंदर या भालू का नाच और घोड़ा को नचाने का दृश्य आदि बच्चों को लुभाते थे। ज्ञातव्य है कि राजस्थान एवं बुन्देलखण्ड क्षेत्र में लिल्ली घोड़ी (दिलदिल घोड़ी) नृत्य एवं पूर्वी उत्तर प्रदेश भोजपुरी क्षेत्र का कठघुड़वा नाच भी इसी प्रकार के लोकनृत्य हैं जो मनोरंजन के सशक्त साधन थे। कुछ दशक पूर्व यह लोक परम्परा आर्थिक बोझ के कारण शादी-विवाहों में भी की जाने लगी थी परन्तु आज यह समाप्ति की ओर है।

स्वांग की मण्डली एक विशेष स्थान पर एकत्र होकर गांव के मुहल्ले में प्रत्येक घर जाती थी, वहीं अपना प्रदर्शन किया करती थी। घर के मुखिया इन्हें बराबर सम्मान देते थे। धनराशि, स्वल्पाहार आदि से इन्हें पुरस्कृत एवं सम्मानित किया जाता था। विदूषक की भूमिका करने वाला व्यक्ति (कलाकार) आगे-आगे चलता था।

आज स्वांग हमारे बीच नहीं है। यदाकदा कुछ स्थलों पर इसके आयोजन हो भी रहे होंगे तो दर्शकों की अरुचि का शिकार भी हो रहे होंगे क्योंकि इलेक्ट्रॉनिक संसाधनों एवं पाश्चात्य संस्कृति ने हमारी परम्पराओं को सिर्फ नुकसान ही पहुँचाया है। हमारी इन विधाओं के प्रति अरुचि का कारण हमारा आधुनिक बनते ही इसके प्रति घृणात्मक सोच रखना है। मुझे यह कहने में बिल्कुल भी संकोच नहीं होगा कि भोपाल के कला जगत के लोगों ने विशेषकर रंगकर्म से जुड़े लोगों ने इस प्रकार की विधाओं को प्राथमिकता दी है। आज कई नाटकों में लोक तत्वों को स्थान मिला है। भारत ज्ञान विज्ञान द्वारा 1990 में निकाले गये साक्षरता जत्थों में आंचलित दलों ने भी ऐसे प्रयास किये थे। हमें स्वांग, नकल, नौटंकी आदि लोकनाट्य परम्पराओं को संरक्षित करने के प्रयास करना चाहिये। मंचीय प्रस्तुतियों के साथ ज़मीनी स्तर पर भी प्रयास करने होंगे तब कहीं हम इन्हें बचा सकेंगे।

भारत ज्ञान विज्ञान द्वारा 1990 में निकाले गये साक्षरता जत्थों में आंचलिक दलों ने भी ऐसे प्रयास किये थे। हमें स्वांग, नकल, नौटंकी आदि लोकनाट्य परम्पराओं को संरक्षित करने के प्रयास करना चाहिये। मंचीय प्रस्तुतियों के साथ ज़मीनी स्तर पर भी प्रयास करने होंगे तब कहीं हम इन्हें बचा सकेंगे।

श्रम, शौर्य और सुन्दरता का विहंगम

सुरेश पंडित

दरअसल लोक संस्कृति आम लोगों के जीने की वह कला है जिसमें उनके छोटे बड़े सुख-दुख, दैनिक गतिविधियाँ, रीति-रिवाज़ और भविष्य की आकांक्षायें परिलक्षित होती हैं। यह एक स्वतः स्फूर्त प्रक्रिया है जो अनादिकाल से चली आ रही है। आम लोगों के जीवन में विविधता के साथ सामूहिकता भी होती है। तभी उन्हें सोशल एनिमल कहा जाता है। वे अपनी अलग पहचान बनाये रखते हुए भी समष्टि में स्वयं को समाहित रखते हैं। इसीलिये उनकी विशाल सांस्कृतिक छतरी के नीचे छोटी-बड़ी कई संस्कृतियाँ पलती-बढ़ती रहती हैं। लोकसंस्कृति का यह विस्तृत वितान जब आत्म प्रदर्शन करता है तो प्यार के साथ यह भी दिखाता है कि उसके उत्पाद कैसे बनते हैं और उनमें विभिन्न घटक कैसे काम करते हैं। व्यक्ति के लिये उत्पादन की स्वतंत्र क्षमता का स्थान जब हर तरह के वर्चस्व से मुक्त विचार ले लेता है तब वह उपलब्धियों की दुनिया में अपने उस महत्व की तलाश करता है जिसे व्यवस्था खासतौर पर नकार देती है। क्योंकि उसे अपने मुकाबले किसी और की सत्ता स्वीकार्य नहीं होती। लोक संस्कृति भी कभी किसी सत्ता की दखलन्दाजी स्वीकार नहीं करती। शोषित-उत्पीड़ित लोगों को यही वह माध्यम प्रदान करती है जिसके जरिये वे व्यवस्था के अन्यायी कृत्यों का प्रतिरोध करते हैं। इस तरह लोक संस्कृति यथास्थिति को तोड़ने और अपने सपनों के अनुरूप समाज को गढ़ने की संस्कृति है। उसे कोई भी अधिनायक दबा नहीं पाता और न ही किसी ताकत से वह परास्त होती है।

सुप्रसिद्ध पश्चिमी समाज शास्त्री टी.डब्ल्यू. अडोर्नो लोक संस्कृति के किये जाते औद्योगीकरण की आलोचना करते हुए कहते हैं कि लोक कलाओं की व्यंजनाओं में जिस विविधता व बहुआयामिता को देखा जाता है वह प्रायोजित या पुनरुत्पादित कलाओं में अदृश्य रहती है। इसीलिये जनता की कला जनता के लिये कला से भिन्न होती है। लोककलायें जहाँ शोषित, वंचित समूहों की सुख दुखात्मक अनुभूतियों को प्रकट करती हैं वहीं लोक के लिये कलायें समाज के उन समूहों के मन बहलाव के लिये प्रायोजित या उत्पादित होती हैं जिन्हें अभिजात या कुलीन वर्ग का अवयव या मुख्यधारा का घटक माना जाता है। लोक संस्कृति को एक उद्योग के रूप में विकसित करने का क्रम पिछले दो तीन दशकों से अधिक तीव्र हुआ है इसीलिये उसमें मौलिक या स्वतः स्फूर्त स्वरूप की अनुपस्थिति को अब आसानी से देखा जा सकता है। देश विदेश में जिस सांस्कृतिक कार्यक्रमों के बहाने लोककलाओं के प्रदर्शनों के आयोजन हो रहे हैं वे लोक के आल्हाद-विषाद की अभिव्यक्ति न होकर विशिष्टजन की दैनिक ऊब से कुछ क्षणों के लिये निजात दिलाने के साधन बन गये हैं। पैसा कमाऊ पर्यटन उद्योग को बढ़ावा देने के लिये सरकारें लोककलाओं का व्यापक रूप से इस्तेमाल कर रही हैं। बाजार की मांग की पूर्ति के लिये इनका आयात-निर्यात अंतर्राष्ट्रीय व्यापार का एक प्रमुख अंग बन गया है।

लेकिन अब भी लोककलाओं के ऐसे द्वीप सीना तान कर खड़े हैं जो व्यापार का साधन बनने से इन्कार करते हैं और बाजार को

अंगूठा दिखाते हैं। आदिवासी और विकास वंचित लोग अपनी अपनी अस्मिताओं को बचाने के लिये अपनी संस्कृतियों का दामन मजबूती से थामे हुए हैं। ऐसे लोगों में छत्तीसगढ़ का वह यादव समाज भी शामिल है जो अपनी परंपरागत कलाओं के सहारे अपनी संस्कृति को बाजार बनने से रोक रहा है। यह समाज आज भी कृषि कर्म और पशुपालन के सहारे जीने वाला समाज है। इसकी जड़ें गांव की धरती में इतने भीतर तक धंसी हुई हैं कि नई अर्थव्यवस्था का अन्धड़ उन्हें हिला डुला नहीं पाया है। कभी जंगलों में अपनी गायें चराते हुए इसके पूर्वज जिस नाच और गाने से अपना दिल बहलाते थे उसी ने ही अपनी इस पारंपरिक कला को राउत नाच नाम देकर इसके अस्तित्व को बचाये रखा है। दीपावली के अवसर पर हर गांव में राउतों के पाजेब और घुंघरू की झन्कार सुनी जा सकती है। सामूहिक नृत्य और गान में इन्हें कटु यथार्थ को भुलाकर मस्ती में सराबोर होते देखा जा सकता है। इनकी 'अंगरखी' की चमक और 'सजुओं' में मयूर पंख व कौडियों की कलात्मक छटा बरबस दर्शकों को मोह लेती है। गायन के लिये आशुरचित दोहों के अटपटे किन्तु लयात्मक बोल सुनने में अच्छे लगते हैं। इनकी प्रत्येक मण्डली में गायक, नर्तक, वादक व अन्य सहयोगी सभी एक तरह के लोग होते हैं। इनमें न कोई किसी कला का विशेषज्ञ होता है और न प्रोफेशनल। चौदह साल के किशोर से लेकर पैंसठ साल के प्रौढ़ तक इस मण्डली में शामिल रहते हैं।

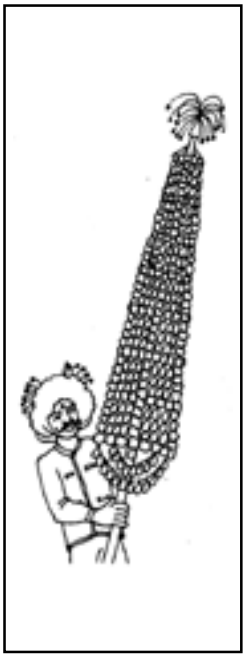

हर गाँव-बस्ती की अपनी-अपनी मंडलियाँ होती हैं जो अपने स्थानों पर कला प्रदर्शन कर प्रतिवर्ष देवउठनी एकादशी के बाद दूसरे शनिवार के दिन छत्तीसगढ़ की सांस्कृतिक राजधानी बिलासपुर में एकत्रित होती हैं और वहां के लाल बहादुर शास्त्री विद्यालय के मैदान में अपनी अपनी कला का प्रदर्शन करती हैं। हर वर्ष अक्टूबर-नवंबर के दरमियान इसका आयोजन होता है। राउत नाच महोत्सव का यह तैंतीसवाँ कार्यक्रम था जो सायं साढ़े छः बजे से शुरु होकर अगले दिन प्रातः नौ बजे समाप्त हुआ। इसमें लगभग छः हजार कलाकारों ने भाग लिया। हर साल की तरह सभी सहभागियों को निःशुल्क भोजन तो दिया ही गया, साथ में 49 रनिंग शील्ड और एक लाख बीस हजार की राशि भी पुरस्कार स्वरूप दी गई।

यह आयोजन हर साल राउत नाचा महोत्सव समिति बिलासपुर द्वारा किया जाता है। इसके संयोजक कालीचरण यादव हैं। छत्तीसगढ़ के विभिन्न अंचलों में यादवों की संख्या लगभग 25 लाख है। इनमें से अधिकतर का इस महा आयोजन में प्रत्यक्ष या परोक्ष योगदान रहता है। लेकिन अब यह एक जाति विशेष का ही आयोजन नहीं रहा है। अन्य जाति/संप्रदाय के लोग भी इसमें स्वेच्छा से भाग लेने लगे हैं। यह श्रमजीवी समाज का एक मिलाजुला कार्यक्रम बन गया है। पहले से इस नाच में गुणात्मक सुधार हुआ है वहीं व्यवस्थागत परिवर्तन भी।

समारोह के सूत्रधार-संयोजक
कालीचरण यादव से संवाद

राउत नाच महोत्सव समिति का गठन कब हुआ? इसका उद्देश्य क्या था?

- समिति का निर्माण 1978 में हुआ। इसका उद्देश्य राउत नाच के आयोजन में लोक नर्तकों द्वारा की जाने वाली अभद्रता को रोकने और उनकी जाति पर लगे अपराधी होने के कलंक को मिटाना था। समिति की देखरेख में 2010 तक के आयोजन पूर्णतः अपराध मुक्त और शान्तिपूर्ण रहे हैं। इतनी बड़ी संख्या में लोक नर्तकों का एकत्र होकर अपनी कलाओं को अनुशासित तरीके से प्रदर्शित करना इस बात का प्रमाण है कि कोई भी व्यक्ति या जाति जन्म से अपराधी नहीं होते।

महोत्सव का आयोजन साल के किस महीने में किस दिन होता है। इस आयोजन के अतिरिक्त समिति और क्या करती है?

- यह उत्सव प्रतिवर्ष देवउठनी एकादशी के बाद आने वाले दूसरे शनिवार को शुरू होकर अगले दिन रविवार तक चलता है। समिति जो एक रजिस्टर्ड संस्था है, अपने संविधान में उल्लिखित उद्देश्यों की पूर्ति हेतु काम करती है। यह समाज के मेधावी छात्र/छात्राओं को आर्थिक सहायता देती है और छात्रावास व सामुदायिक भवन आदि के निर्माण में अपना योगदान देती है।

यह समिति विगत 24 सालों से लोक संस्कृति के विमर्श पर केन्द्रित 'मड़ई' नाम की वार्षिक पत्रिका निकालती है। इसे वह देश के कोने-कोने में रहने वाले लेखकों, बुद्धिजीवियों तक निशुल्क पहुँचाती है।

मड़ई शब्द से आपका क्या तात्पर्य है? क्यों इसे इतना महत्व दिया गया है?

- मड़ई राउत लोगों की प्रचलित बोली का एक शब्द है। जब वे लोग जंगलों में पशु चराने की ऊब और कृषिकर्म के श्रम से पस्त हो जाते थे तब अपनी अपनी लाठी ले नाच गान कर मस्त होते थे। यह जंगली जानवरों से अपने आप को और पशुओं को बचाने के काम भी आती थी। इस तरह लाठी चरवाहों और किसानों की एक अनिवार्य संगिनी रही है। इसे सुन्दर बनाने के लिये वे पलाश की जड़ों के गुच्छों में बांधकर झूले बनाते थे। अब उसी लाठी की सजावट के उपकरण बदल गये हैं। फिर भी यह श्रम, शौर्य और सुन्दरता का प्रतीक बनी हुई है। राउत समुदाय इसे अपनी पहचान मानता है।

इन सब आयोजनों के लिये पैसा कहाँ से आता है? पिछले आयोजन में लगभग कितना खर्चा हुआ है?

- 'मड़ई' में छपने वाले विज्ञापनों से जो आय होती है, उससे समिति का अधिकतर खर्चा चलता है। सरकार से कोई अनुदान नहीं लिया जाता। पिछले कुछ सालों से केन्द्रीय हिन्दी संस्थान और संगीत नाटक अकादमी क्रमशः 25 व 50 हजार की राशि सहायता स्वरूप दे रही है।

हुआ है। 1978 से पहले यह पर्व एक बदनाम पर्व था क्योंकि इसमें भाग लेने वाले दल इस अवसर का उपयोग व्यक्तिगत व सामाजिक वैमनस्य फैलाने और प्रतिशोध लेने के लिये करते थे। फलस्वरूप लड़ाई झगड़े यहां तक कि हत्याएं भी हो जाना एक मामूली बात थी। यह दिन स्थानीय प्रशासन के लिये मुसीबत का दिन बन जाता था। कानून और व्यवस्था बनाये रखने के लिये उसे भारी मशक्कत करनी पड़ती थी। इसीलिये इन दलों को आपराधिक जातियों की तरह पहले थाने में हाज़िरी देनी होती थी। हालात को बदलने और समाज पर लगे कलंक को मिटाने के लिये समिति ने प्रभावी पहल की। फलस्वरूप सकारात्मक परिणाम सामने आने लगे। अब प्रतिशोध की जगह स्वस्थ प्रतिस्पर्धा होने लगी है। परस्पर भाईचारा बढ़ने लगा है और यह उल्लास और उमंग की अभिव्यक्ति का त्यौहार बन गया है। इस महोत्सव की सफलता को देखकर अब बिलासपुर से बाहर छत्तीसगढ़ के अन्य अंचलों में भी इसका आयोजन होने लगा है।

इसकी एक विशेषता यह है कि यह आयोजन सरकार से किसी प्रकार की सहायता नहीं लेता। इसीलिये इसका पारंपरिक स्वरूप ज्यों का त्यों बना हुआ है। सरकारी अनुदानों ने जिस तरह संस्थाओं को बिगाड़ा है, उनके सदस्यों को भ्रष्ट किया है और सांस्कृतिक आयोजनों को सरकारी दखलन्दाजी के चलते विकृत कर दिया है यह तथ्य आज किसी से छिपा नहीं रहा है। स्थानीय प्रशासन की भूमिका अब केवल इसके लिये सुविधा प्रदान करने की रह गई है।

श्रम की थकान और प्राकृतिक विपदाओं से राहत पाने और आने वाले कल के लिये पुनः ऊर्जा प्राप्त करने तथा शासक वर्ग के अन्यायों का प्रतिरोध करने की प्रक्रिया ने ही लोक कलाओं को पल्लवित, पुष्पित किया है। ये तब तक आगे बढ़ती रही हैं जब तक इनका लोक जीवन से साथ बना रहा है। राउत नाच की परम्परा भी अब तक इसलिये अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है।

महोत्सव के आयोजन के साथ-साथ यह समिति समाज के मेधावी छात्र/छात्राओं को प्रतिवर्ष छात्रवृत्ति देती है। सामुदायिक भवन और छात्रावास जैसे सार्वजनिक कार्यों के लिये इसने अच्छी मात्रा में राशि भी प्रदान की है। लेकिन इन सबसे अधिक महत्वपूर्ण काम यह लोक संस्कृति विमर्श पर केन्द्रित 'मड़ई' नाम की एक वार्षिक पत्रिका का प्रकाशन करके करती है। 'मड़ई' उस सुसज्जित लाठी का नाम है जिसे राउत नर्तक अपने मूल्यों में इस्तेमाल करते हैं। यह श्रम, शौर्य एवं सौन्दर्य का समन्वय प्रदर्शित करती है। इसलिये यह इस नृत्योत्सव का प्रतीक चिन्ह बनी हुई है। इसमें देश के ख्याति प्राप्त लोक संस्कृति मर्मज्ञों के लेख प्रकाशित होते हैं। लगभग 200 पृष्ठों वाली यह पत्रिका देश के कोने-कोने में फैले लेखकों-बुद्धिजीवियों तक निःशुल्क पहुँचाई जाती है। डॉ. कालीचरण यादव के संपादन में निकलने वाली इस पत्रिका के 2010 तक 24 अंक प्रकाशित हो चुके हैं।

श्रम की थकान और प्राकृतिक विपदाओं से राहत पाने और आने वाले कल के लिये पुनः ऊर्जा प्राप्त करने तथा शासक वर्ग के अन्यायों का प्रतिरोध करने की प्रक्रिया ने ही लोककलाओं को पल्लवित, पुष्पित किया है। ये तब तक आगे बढ़ती रही हैं जब तक इनका लोक जीवन से साथ बना रहा है। राउत नाच की परम्परा भी अब तक इसलिये अविच्छिन्न रूप से चली आ रही है क्योंकि व्यावसायिकता इसे छू नहीं पाई है। लोक की मस्ती लोक की उमंग और लोकमन में उमड़ता उत्साह इसे जीवन्त व लोकप्रिय बनाये हुए है। इसकी सार्थकता इसलिये भी बनी हुई क्योंकि इसमें गाये जाने वाले आशुरचित दोहे सामयिक सच को भी अपने में समोये रखते हैं। जैसे- 'राम राज में दूध मिले, कृष्ण राज में घी हो। अब के राज में चाय मिले, फूँक-फूँक कर पी हो।' इनमें परिवर्तन की दशा एवं दिशा को भी प्रकट किया गया है। २. 'ऐसे ही कनवा होगे कानून अउ, मेरी होगी सरकार हो। कौन देखय दुखिया मनल, कौन सुनय गोहार हो।' अर्थात् कानून अंधा हो गया है और सरकार बहरी हो गई है, ऐसे में दुखिया मन के दुख को कौन देखे और कौन हमारी गुहार सुने।

ये दोहे चाहे शास्त्र सम्मत नियमानुसार न हों पर लोकमन के भावों को प्रकट करने और लयात्मकता को बनाये रखने में तो समर्थ हैं ही। कुछ विचारकों का यह मानना है कि भूमंडलीकरण के अमानवीय चेहरे को बदलने और विकास की विसंगतियों को ठीक करने का एक तरीका स्थानीयतावाद को प्रोत्साहन देना भी हो सकता है। लोककलाओं को प्रश्रय देना इसी ओर उठा एक कदम है और राउत नाच की भूमिका इसमें अत्यधिक महत्वपूर्ण है।

रंगपटल पर आँचल पसारती कविता

विनय उपाध्याय

कविता यात्रा : परिकल्पना-संतोष चौबे, निर्देशन-मनोज नायर
छाया-नीरज खिरखिरिया

कविता के पाठ को लेकर, नए कलात्मक रिश्तों को लेकर, नई पीढ़ी के बदलते रुझान और आस्वाद के आग्रहों को लेकर शिक्षा और संस्कृति के रहनुमाओं ने योजनाबद्ध ढंग से कोई कारगर पहल की हो, मालूम नहीं। इस अंधेरे में टिमटिमाती उम्मीद भरी लौ शौकिया रंगमंच ने जरूर दिखाई है।

बाज़ार और सूचना की पाँव पसारती दुनिया में कविता के सिकुड़ने जाने का सच भले ही कवि-समाज खुलेपन से स्वीकार न करें लेकिन दरहकीकत हिन्दी भाषी बिरादरी में तो कविता कमोबेश निष्कासित सी है। हमें बेझिझक इस निर्मम सत्य को कुबूल कर हताशा से बाहर निकलकर वे राहें तलाशनी चाहिए जो अंततः कविता की पुनर्प्रतिष्ठा की ओर जाती हों। ऐसा भी नहीं, कि कविताओं के दरिया सूख गए हों और भावों और विचारों की झीरें बहना बंद हो गयी हों। यह धारणा भी ठीक नहीं कि कविता की लहरों के संग डूबने-उतराने की गरज नवजात पीढ़ी में बाकी नहीं। हमें लगता है कि सामाजिक-यांत्रिक चुनौतियों को ठीक से पहचानने और पठन-पाठन तथा सम्प्रेषण की विधियों का ठीक से विश्लेषण करने में कोताही हुई है। इन कंजूस फिक्रों के साथ ही लेखक-कलाकारों के बीच सृजनात्मक संवाद की बीहड़ खाइयाँ और भीषण पूर्वाग्रह भी नए प्रयोगों को परवान चढ़ने से रोकते रहे हैं।

हमारे सुदूर अतीत में भी कविता और कला की अंतरंग सोहबत से पाठक-रसिकों का संकुल तैयार होता रहा। जिसे हम मौखिक, वाचिक, श्रुति या पाठ परंपरा कहते आए हैं, कविता उसी नाव पर तैरती लोक की वैतरणी पार करती रही है। इस परंपरा ने सदा ही नए प्रभावों को आत्मसात किया और सुविचारित ढंग से समाज को संस्कारित करने तथा कविता के प्रति गहरी प्रीति जगाने में जिम्मेदार भूमिका निभाई। इधर बीच के बरसों में कविता के पाठ को लेकर, नए कलात्मक रिश्तों को लेकर, नई पीढ़ी के बदलते रुझान और आस्वाद के आग्रहों को लेकर शिक्षा और संस्कृति के रहनुमाओं ने योजनाबद्ध ढंग से कोई कारगर पहल की हो, मालूम नहीं। इस अंधेरे में टिमटिमाती उम्मीद भरी लौ शौकिया रंगमंच ने जरूर दिखाई है। सीमित संसाधनों के बावजूद उसने अपने आँचल में कविता को आश्रय दिया खासकर विषय, विचार और शिल्प के नए ताने-बाने के साथ जिस कथित छन्दविहीन नई कविता का अवतरण हुआ उसे किताबी दायरे से बाहर वाचिक-अभिनय के जरिए जनता के बीच ले जाने का उत्साह गैर पेशेवर रंगकर्मियों ने दिखाया है। इधर कविता के पाठ-प्रयोग की प्रस्तुतियों का चलन बढ़ा है। स्वीकारने और नकारने के तर्क-वितर्कों के बीच नई बहसों ने जन्म लिया है। लेकिन लगभग निर्वासित और बेजार हो रही आधुनिक कविता की कला के परिसर में यह आमद भरोसा तो जगाती ही है। मिसाल हिन्दी के यशस्वी कवि संतोष चौबे की कविताओं की पिछले दिनों भारत भवन, भोपाल में हुई पाठ-प्रस्तुति है। निरंतर सृजन सक्रिय युवा रंगकर्मी संजय मेहता ने चौबे के नवप्रकाशित काव्य संग्रह 'धरती का कोना' और 'इस अ-कवि समय में' से २६ कविताएँ चुनकर छात्र वय के कलाकारों के जरिए उन्हें साभिनय प्रस्तुत किया। निश्चय ही यह चौबे की कविताओं का पुनर्जन्म था लेकिन एक नए रागात्मक सूत्र और आनंद की अपार ऊर्जा से सभागार भरा था। यहाँ कहीं-कहीं शब्दों के अशुद्ध उचारण, सतही पाठ और दृश्य परिधि के ठीक से उनके न बाँध पाने की बाकी रही कसर पर प्रदर्शन के बाद कवि-आलोचकों के बीच बहसें भी हुई लेकिन रंगकर्म और कविता के बीच रचनात्मक छटपटाहट और चुनौतियों से पार जाने

नीरज

की जिजीविषा को तो साधुवाद ही मिला। लगभग चार सौ प्रेक्षकों से भरी अंतरंग शाला में एक चौथाई तादाद उन तरुणों की थी जिनमें से अधिकांश सूचना प्रौद्योगिकी या विज्ञान के स्नातक बनने मध्यप्रदेश या पड़ौसी प्रदेशों के नगर-कस्बों से आए हैं। खुद कवि संतोष चौबे के लिए यह विस्मय और प्रसन्नता से भरा अनुभव था कि तकनीक की तालीम ले रहे इन छात्रों ने न केवल पेश की जा रही कविताओं को धीरज और रुचि से सुना-देखा बल्कि प्रस्तुति के दौरान ठीक मुकाम पर स्वतः स्फूर्त तालियों से कविता के प्रति अपनी समझ का साक्ष्य भी दिया। तय तो यही है कि कविता से आत्मीय परिचय की पहली सीढ़ी उसका पाठ है।

नीरज

यह शुभ संकेत है कि अपनी-अपनी हदबंदियाँ तोड़कर साहित्य और कला की विधाएँ एक-दूसरे से गलबाहें कर समाज को संबोधित होना चाहती हैं। मकसद यही कि समाज से उठाया कोई विचार, घटना, स्मृति या अनुभव पूरे ताप के साथ समाज में जाए और सर्जक का निजी चिंतन समूह को भी आन्दोलित करे। बात भोपाल की, तो रंगभूमि पर हो रहे प्रयोगों ने खासा ध्यान बाँटा है। नई कविता के रंगमंच ने दिलचस्पी के आयाम रचते हुए वृहद दर्शक बिरादरी अर्जित करने में बाजी मारी है।

यह शुभ संकेत है कि अपनी-अपनी हदबंदियाँ तोड़कर साहित्य और कला की विधाएँ एक-दूसरे से गलबाहें कर समाज को संबोधित होना चाहती हैं। मकसद यही कि समाज से उठाया कोई विचार, घटना, स्मृति या अनुभव पूरे ताप के साथ समाज में जाए और सर्जक का निजी चिंतन समूह को भी आन्दोलित करे। बात भोपाल की, तो रंगभूमि पर हो रहे प्रयोगों ने खासा ध्यान बाँटा है।

नीरज

आधुनिक हिन्दी रंगमंच के आसपास बात करते हुए थोड़ा पीछे जाएँ तो भोपाल में कविता और मंच की नातेदारी का सिलसिला रंगमंडल भारत भवन ने शुरू किया। ज्येष्ठ रंगकर्मी अलखनंदन ने हिन्दी के सुप्रतिष्ठित कवि श्रीकांत वर्मा की रचनाओं के साथ अगुवाई की। रंगकर्मी जयंत देशमुख मुक्तिबोध की कविताओं को लेकर नए नाटकीय तेवरों के साथ प्रकट हुए। उत्साह और जागृति के इस माहौल में राजीव गोहिल ने भी कविता का मंचीय प्रयोग किया। बीच के कुछ बरस खामोशी में डूबे रहे, लेकिन हिन्दी कविता का हाथ थामकर उसे पुनः रंग परिसर में लाने का साहस संजय मेहता ने किया। अपने नाट्य समूह 'रंगशीर्ष' के लिए उन्होंने बाकायदा कविता की पाठ प्रस्तुति के शोध, अन्वेषण और मंचन का अबाध सिलसिला शुरू किया। म.प्र. की साहित्य अकादमी के आयोजनों में भी कविता के आस्वाद और सम्प्रेषण की नई जगह बनी। प्रदेश के ही जनसंपर्क संचालनालय ने 'कविता में मध्यप्रदेश' शीर्षक धारावाहिक प्रदर्शनों का सिलसिला शुरू किया। वृहद विमर्श भी पिछले दिनों संजय मेहता के संयोजन में ही भोपाल में हुआ। एक अन्य सफल प्रयोग 'कविता यात्रा' भी काफी चर्चित रहा। संतोष चौबे द्वारा चयनित समकालीन हिन्दी कवियों की रचनाओं को मनोज नायर ने अनूठी रंग चेतना दी। वहीं रंगकर्मी ब्रजेश अनय ने मालवा के कवि प्राण वल्लभ की कविताओं को नाटकीय सूत्रों में विन्यस्त किया। आलोक चटर्जी ने कविता और गद्य की कई विधाओं के नियमित पाठ की ओर रुख किया और बिल्कुल अभी-अभी युवतम रंगकर्मी सौरभ अनंत ने धर्मवीर भारती की बहुशंसित काव्य रचना 'कनुप्रिया' के मंचन का साहस भारत भवन (भोपाल) में किया। ...अब सवालों का उठना भी लाजिमी है। कविता के चयन और उसकी ओर उठ रही निगाह को लेकर, निर्देशक और अभिनेताओं के काव्यबोध को लेकर, मंचन की संप्रेषणीयता लेकर.... कई बिन्दु हैं, जिन पर गंभीर और नियमित विमर्श की दरकार है। निश्चय ही खुली आलोचना से प्रयोगधर्मिता का परिष्कार होगा।

डायरी/**संजय मेहता**

अभिनय ब्रह्माण्ड के लिए

मेरे गुरू ब.व. कारंत कहते थे- दर्शक कम हो या ज्यादा अभिनेता पर इसका असर नहीं पड़ना चाहिए। उनका कहना था कि अगर दर्शक-दीर्घा में दस दर्शक भी आए हैं तो अभिनेता को पूरे उत्साह के साथ अभिनय करना चाहिए क्योंकि वो दर्शक, पूरी ईमानदारी और उत्साह के साथ नाटक को देखने आए हैं। इसी बात को आज मैं एक और तरह से देखने की कोशिश कर रहा हूँ। अभिनेता पर दर्शक संख्या का मनोवैज्ञानिक असर पड़ता है क्योंकि वह मान कर चलता है कि हॉल में मौजूद दर्शक ही उसकी प्रस्तुति बनती या बिगड़ जाती है। मुझे लगता है कि अभिनेता को ये मानकर चलना चाहिए कि वो प्रस्तुति, अभिनय सिर्फ हॉल में मौजूद दर्शकों के लिए नहीं बल्कि पूरे ब्रह्माण्ड के लिए, पूरी सृष्टि के लिए कर रहा है। तब उसकी प्रस्तुति और अभिनय दोनों ही बदल जाएँगे। मैं इस बात को एक सरल उदाहरण से सिद्ध करने की कोशिश करूँगा। छिपकर की गई चोरी या कत्ल कभी-न-कभी उजागर हो जाते हैं, दोनों बुरे काम हैं जिसे कोई ने नहीं देखा तब वो कैसे सामने आते हैं। तब एक अच्छी प्रस्तुति और अच्छा अभिनय कैसे छुप सकता है। हॉल में मौजूद कम या ज्यादा दर्शकों द्वारा उत्पन्न मनोवैज्ञानिक प्रभाव से इस विचार का पालन कर बचा जा सकता है।

भरत मुनि के सवाल पर...

नाटक की 'विषयवस्तु' को लेकर हमेशा ही बात होती रही है। भरतमुनि के 'नाट्य शास्त्र' में विषय वस्तु (कथ्य) को लेकर विस्तार से वर्णन है। भरतमुनि कहते हैं- ''नाटक की कथावस्तु पुराणों से, आख्यानों से ली जाये। साथ ही वो कहते हैं कि अच्छा दिखाया जाये; बुरा दिखाने की जरूरत नहीं है। अच्छे का प्रभाव दर्शक समाज पर पड़ता है। इसी के साथ ही भरतमुनी ने एक निर्देशक की भूमिका और जिम्मेदारी की ओर संकेत भी किया है, कि उसे समाज को क्या दिखाना है और क्या नहीं। इसलिए उन्होंने कई चीजें मंच पर वर्णित की जिसे बाद में भास द्वारा तोड़ा गया। यदि इसी बात को दृष्टिगत रखते हुए हम आज के संदर्भ में देखने की कोशिश करें तो भरत मुनि की बात का अर्थ दिखायी देता है। हिन्दी में हिन्दी और अन्य भाषाओं से अनुदित जदो नाटक हो रहे हैं। अगर उन नाटकों को एक नजर देखें तो उनमें से कई नाटक, किसी खास व्यक्तिगत मनोविकारों पर आधारित हैं, तब सवाल ये उठता है- ऐसी विषय वस्तु का समाज से क्या लेना देना? ऐसे मनोविकार पर नाटक बनाकर दर्शकों के दिखाने के बजाय क्या ऐसे व्यक्ति को चिकित्सक को दिखाना उचित नहीं होगा?

एक सवाल और मन में उठता है, वो लेखक जो इस तरह की विषय वस्तु पर टास्क लिख रहे हैं या वो निर्देशक जो कर रहे हैं, उन पर बाजार का कोई दबाव है या कुछ अलग होने की मानसिकता का प्रतीक। इस पर विचार जरूरी है... रंगकर्म, एक गहन गंभीर, संवेदनशील और जिम्मेदारी से भरा माध्यम है, चूँकि रंगकर्म में छूट और स्वतंत्रता अधिक है इसलिए कई बार चीजें छोटी हो जाती हैं। एक पैनी नजर की जरूरत है वरना रंगमंच की स्थिति चालू सिनेमा की तरह होने की पूर्ण संभावना है।

सीख का मर्म

बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हो चुका था वो जंगल में बैठे थे, तभी कुछ युवक वहाँ आए, जो किसी को तलाश रहे थे। बुद्ध ने उनसे पूछा- ''किसे खोज रहे हैं?'' उन युवकों ने कहा- ''कल रात को मनोरंजन के लिये हम एक गणिका को लाये थे, जो हमारे गहने, कपड़े लेकर भाग गई उसे खोज रहे हैं।'' बुद्ध ने कहा- ''उसे खोजना चाहते हैं या स्वयं को।'' ये बात युवकों के मन में घर कर गई, वो वहीं बैठ गए। उनमें से एक युवक के पास बाँसुरी थी। बुद्ध ने उससे बाँसुरी बजाने को कहा। युवक ने कुछ देर बाँसुरी बजायी फिर युवक को लगा कि बुद्ध भी बाँसुरी बजाना जानते हैं। उसने बुद्ध से बाँसुरी बजाने को कहा। बुद्ध ने बाँसुरी हाथ में ली और उन्हें बचपन याद आया, जब उन्होंने बाँसुरी बजाना सीखा था, वे तन्मयता के साथ बाँसुरी बजाने लगे। उनका अद्‌भुत बाँसुरी वादन सुनकर उस युवक ने उनसे आग्रह किया कि उसे अपना शिष्य बना लें, उसने ऐसी बाँसुरी अभी तक नहीं सुनी। तब बुद्ध ने कहा कि मैंने बाँसुरी बजाना बचपन में सीखा था, अच्छी बाँसुरी बजाना इसलिए संभव हुआ कि मेरा आत्मा से साक्षात्कार हो चुका है। इस कहानी को कहने का तात्पर्य ये है कि हम सीख सभी कुछ सकते हैं, पर उसका अच्छा होना हमारे अंतसज्ञान पर निर्भर है। दरअसल मुझे लगता है, अभिनेता एक माध्यम है, रिसीवर है जिसे हमें शुद्ध करना होता है, विकसित करना होता है, ताकि वो चीज़ों को रिसीव कर सके और उसी शुद्धता के साथ दूसरों तक पहुँचा सके।

अभिनय

अपनी तरह से नहीं
उनकी तरह से करना था अभिनय
वही थे नियंता
हमें तो करते चले जाना था अनुसरण
संकेतों से करनी थी निहितार्थ
संकेतों से करनी थी एक झूठ की निष्पत्ति
अंधकार से भागना था
प्रकाश वृत्तों की ओर
बोलते-बोलते वहाँ से
लौट आना था अंधकार में

कहा जाता चार कदम चलने को
चलना था चार ही कदम
बोलना था
बोलकर ठिठक जाना था
ठिठककर
फिर चले जाना था नेपथ्य में
कभी मारना था जोर से ठहाका
कभी रोना था बुक्का फाड़कर
कुछ भूमिकाओं में तो
चुप ही रहना था पूरे वक्त
इस तरह की थी एक भूमिका
कि एकाएक मनुष्य से
तब्दील हो जाना था एक घोड़े में
घोड़े से फिर एक व्यापारी में
व्यापारी से फिर एक निरीह खरीदार में
यही थी अभिनय की नियति
जीवन ही था एक नाटक का होना
जहाँ अंततः
तब्दील होना था हमें एक ग्राहक में।

राघवेन्द्र तिवारी

अभिनेता

मैं एक ऐसे अभिनेता को जानता हूँ
जो स्टेशन पर उतरते ही
चलने लगता है मेरे साथ-साथ
बार-बार लपकता सामान की ओर
पूछता हुआ- ''कहाँ जाना है भाई साहब?
चलो, रिक्शे में छोड़ देता हूँ।''
उम्मीद की डोर से बंधा
अपनी घृणा को छुपाता हुआ
वह काफी दूर चलता है मेरे पीछे-पीछे

भर दुपहरी में
जब सब दुबके रहते हैं अपने-अपने घरों में
उस बूढ़े अभिनेता का क्या कहना
बहुत दूर सड़क से
सुनाई पड़ती है उसकी डूबी हुई आवाज़
जो बच्चों के लिए कुल्फी का गीत गाता है

एक लड़का मिलता है टॉकीज के पास
रास्ता चलते पकड़ लेता है हाथ
मैं भयभीत होता हूँ इस अभिनेता से
मैं डरता हूँ उसकी जलेबियों से
वह ज़िद के साथ कुछ खिलाना चाहता है मुझे
मेरे इनकार करने पर कहता है-
''समोसे गरम हैं
कहो तो बच्चों के लिए बांध दूँ?''

एक अभिनेता ऐसा है शहर में
जो कपड़ा दुकान के अहाते में
बैठा रहता है कुर्सी लगाए
हर आते-जाते को नमस्कार करता
दिन भर मुस्कुराता ही रहता है
और महीने भर में
सात सौ रुपया पगार पाता है।

गली, मोहल्लों, हाट, बाजार और सड़कों पर
हर कहीं टकरा ही जाते हैं ऐसे अभिनेता
पेट छुपाते हुए अपनी-अपनी भूमिकाओं में संलग्न
जीवन से ही सीखा है उन्होंने अभिनय
जरूरतों ने ही बनाया है उन्हें अभिनेता
ऐसा भी हो सकता है अपने पिता की उंगली पकड़
वे चले आयें हो अभिनय की उस दुनिया में
पर उसका कहीं नाम नहीं
रोटी के सिवाय कोई अपना नहीं उनके पास

ऐसे कुछ लोग भी हैं इस समाज में
जो इन अभिनेताओं की करते हैं नकल
और बन जाते हैं सचमुच के अभिनेता।

अधूरी इच्छाओं पर मृत्यु का पूर्ण विराम

प्रभु जोशी

मकबूल फिदा हुसेन

स्मृति शेष

देश के सर्वाधिक ख्यात और विवादास्पद चित्रकार मकबूल फिदा हुसैन ने अपने मुल्क से दूर लंदन के रॉयल ब्राम्प्टन अस्पताल में आखिरी साँस ली। उनके अवसान के साथ ही वर्षों से चले आ रहे विवादों को भी विराम लग गया। इंदौर से अपना कला जीवन शुरू करने वाले हुसैन ने पिकासो की तरह अपने जीवन में अपार प्रसिद्धि पाई और अनंत आलोचनाएँ। वे एकमात्र ऐसे भारतीय चित्रकार थे, जिनकी प्रदर्शनी महान चित्रकार पाब्लो पिकासो के साथ लगी। उनके निधन पर श्रद्धांजलि...

किसी के भी जीवन की कदाचित इससे दुर्भाग्यपूर्ण और दारुण-त्रासदी भला और क्या हो सकती है कि वह अपने प्रिय शहरों की गलियों और चौराहों पर नंगे पाँव घूमने और घूमते रहने की अनवरत इच्छा को अधूरी छोड़कर, अपने जीवन के आखिरी वर्षों में बेवतनी की ज़िंदगी जीते हुए, एक पराए मुल्क में दम तोड़ दे। बहरहाल, देश के सर्वाधिक चर्चित चित्रकार हुसैन पिछले लगभग एक दशक से अपने मुल्क से बाहर आत्म निर्वासित-सा जीवन जीने को बाध्य थे। उनके साथ एक भद्दा-प्रहसन लगातार चल रहा था, जिसका पटाक्षेप आखिरकार गुरुवार हो गया। अपनी अपार प्रसिद्धियों और सम्पदाओं के साथ ही साथ भूरि-भूरि भर्त्सनाओं को हाशिए पर करते हुए वे इस संसार से विदा हो गए। दरअसल, वे अपनी प्रसिद्धियों में चाहे अंतर्राष्ट्रीय हो गए हों, लेकिन उनके भीतर एक 'खोया हुआ कस्बे का आदमी' था, जो इंदौर उतरते ही इसकी पुरानी बस्तियों में अपनी अर्द्ध-जागृत और अर्द्ध-विस्मृत स्मृतियों को खंगालने को बेताब हो उठता था।

जब पहली बार मैंने उन्हें संयोगितागंज के उस शिकस्ता स्कूल की सड़क पर देखा था तो यही लगा था, जैसे वे कहीं जाने की जल्दी में हैं, किसी ऐसी जगह जो कहीं है ही नहीं। और अगर कहीं है भी तो वह अपने ही भीतर। शायद वे उस 'भीतर' की जगह को 'बाहर' ढूँढ रहे थे। मैंने उनसे एक छोटी-सी बातचीत का प्रस्ताव रखा तो वे तुरंत तैयार हो गए। उस दिन कम लेकिन बहुत प्यारी बातें हुईं, जिसमें डीजे जोशी के रंगों और विष्णु चिंचालकर के 'आइवनो ग्राफिक सिम्पलीफिकेशंस ऑफ लाइंस' की बातें थीं। उनको देखकर लगता था, वे उन्हीं दिनों में लौट गए हैं और वहाँ से बुलाने के लिए उन्हें बार-बार आवाज देना होगी। बीच-बीच में वे मुझसे मेरे बारे में पूछ लेते थे और बदले हुए इंदौर के बारे में। वे उन दिनों अपने पर बनाई जाने वाली डाक्यूमेंट्री फिल्म की शूटिंग के सिलसिले में आए थे। उनके पास फूटी कोठी की यादें साबुत थीं, जिसमें कोई जहीन-सी लड़की की शक्ल भी शामिल थी। उम्र और अहं को एक ओर करके जब वे मुस्कराए तो लगा, देह चाहे सत्तर का शिखर पार कर ले, पर मन तो वही होता है न, बचपन का। कच्चा और किशोर। उन्होंने शायद उसे भीतर बचा रखा था। शायद हर कलाकार में ये कूव्वत होती है। मुझे जहाँ तक याद है, उन्होंने अपनी पहली पेंटिंग 'जूनी इंदौर' दस रुपए में बेची थी, और जो उन्होंने अपनी आखिरी कृति पूरी की होगी, हो सकता है उसकी कीमतें करोड़ों में हों; लेकिन मेरा यकीन है उनके लिए उसकी कीमत से ऊपर ही ठहरती होंगी इंदौर की स्मृतियाँ।

हुसैन दरअसल, पूरी शताब्दी में पैदा हुए एकमात्र ऐसे आधुनिक चित्र थे, जिसने लातादाद चित्र बनाए और कला को पत्रकारिता की 'दैनंदिनता' के पास लाकर खड़ा कर दिया था। उनकी इस वृत्ति को लेकर कला आलोचकों और उनके समकालीनों ने उनकी निंदाएँ भी कीं, लेकिन वे पिकासो की तरह हमेशा अपने 'समय' में अपराजेय बने रहे और 'प्रोलिफिक' होने ने न उनकी कला का स्तर नीचे गिरने दिया ना ही उनके बाजार को। उन पर व्यावसायिक होने के लाँछन भी खूब लगे, लेकिन हकीकतन वे बाजार की परवाह ही नहीं करते थे। बाजार की तरफ जाते नहीं थे, बल्कि बाजार ही उनके पीछे दौड़ता रहा। चाहे युग उनकी सराहना का रहा हो, या भर्त्सनाओं का। उनकी कृतियों की कीमतें आसमान में डटी रहीं। यह शायद उनकी कुंडली में लिखा होगा, जिसे उनके आलोचक पढ़ नहीं पाए।

उनकी ख्याति जिस वजह से ऊपर उठी और उसने मकबूल फिदा हुसेन को हुसेन बनाया, वह थी लोहिया के सुझाव पर रामायाण का आधुनिक कला मुहावरे में चित्रांकन। बदरी विशाल पित्ती इसके अप्रकट प्रायोजक की तरह थे। नतीजतन, नेहरू भी प्रभावित हुए और हुसेन ने उन्हें भी अपनी उसी शैली में पेंट किया। लेकिन, कई बार जो कारण 'जीवन दान' को संभव बनाते हैं, वे ही जीवन हरण का आधार बन जाते हैं। 'हुसेनी रामायण' ने उन्हें जितना प्रसिद्ध किया, उसी ने बाद में उनसे और उनकी कला से बदला भी लिया। दुर्भाग्य की बात यह कि इसकी शुरुआत भी उनके उसी इंदौर से हुई, जहाँ की गलियों और चौराहों पर भटकते हुए हुसेन ने अपनी कला की संजीवनी संग्रहीत की थी। इंदौर की चिंगारी ने ऐसी लपटें पकड़ीं कि उसकी आँच में देश, कला और हमारी कसौटियाँ भी झुलस गईं। हुसेन झुलसते हुए धीरे-धीरे आत्मनिर्वासन की ओर मुड़ गए और वापस अपने मुल्क लौट नहीं पाए। अब शायद उनकी मांस-मज्जा और अस्थियों वाली देह किसी ताबुत में लौटे। लेकिन, यह एक ऐसी पटकथा का कलंकित पृष्ठ है, जिसमें हमारे समय की निष्करुण और निर्ममताएँ अपनी मनहूस शक्लों के साथ हमेशा एक दोगला दृश्य गूँथती रहेंगी।

हुसेन को कितना ही निंदित किया गया हो, लेकिन राजनीति की रतौंध से कला की पहचान असंभव है। हुसेन निर्विवाद रूप से इस देश के महान चित्रकारों में गिने जाएँगे। उनके पास अपने समकालीनों की तरह 'काम' नहीं कृतियाँ हैं। सूजा को खो देने से आधुनिक भारतीय कला में कोई शून्य पैदा नहीं हुआ, लेकिन हुसैन को खोकर निश्चय ही कला बेआसरा हुई है। उनकी कृतियों को उन्मादियों ने चाहे जलाया और नष्ट किया हो, लेकिन वे कीनेथ रेक्सार्थ शायद यही मानते थे कि ध्वंस का एकमात्र मुँहतोड़ उत्तर सिर्फ सृजन है। यही

वक्त की धूल के नीचे उनकी आलोचनाएँ भुरभुरा कर दब जाएँगी और अंत में उनकी कृतियों कीर्तियाँ हमें याद दिलाती रहेंगी कि इस इंदौर ने अपना एक महान पैदा किया था।

इंदौर (म.प्र.) में हुसेन का इंटरव्यू रेकार्ड करते लेखक -चित्रकार प्रभु जोशी

वजह थी कि वे हर ऐसी घटना के बाद तुरंत किसी नए कैनवास के सामने खड़े होते थे- दरअसल, उन्होंने जीवन भर जितना विषमताओं से सामना किया, उससे ज्यादा सामना किया खाली कैनवास का। वे कैनवास के सामने कभी परास्त नहीं हुए, जबकि अधिकांश समकालीनों के कैनवास उनकी पराजय का प्रमाण बनते हैं और वे बहुत जल्द कृति बनने के पूर्व ही अदृश्य हो जाते हैं। हुसेन ने जिस तरह 'संरचनागत' स्तर पर भारतीय आधुनिकता चित्रकला में योगदान दिया है, वह अप्रतिम है। वक्त की धूल के नीचे उनकी आलोचनाएँ भुरभुरा कर दब जाएँगी और अंत में उनकी कृतियों कीर्तियाँ हमें याद दिलाती रहेंगी कि इस इंदौर ने अपना एक महान पैदा किया था।

अनुभूति सिरजता शिल्पी

उदयन वाजपेयी

महान फिल्मकार, ध्रुपद संगीत के अनन्य गुरु और ओजस्वी उपस्थिति मणि कौल नहीं रहे। वे मेरे गुरु थे। हैं। गुरु के बिल्कुल पारंपरिक अर्थ में। मैंने समूचे जीवन में ऐसा कुछ नहीं किया है, जिस पर उनकी छोटी या बड़ी छाया न पड़ी हो। ऐसा एकमात्र मैं नहीं, उनके अनेक शिष्य हैं। उन्होंने सारी उम्र उन सभी को कुछ न कुछ जरूर दिया, जिसके भी संपर्क में वे आए। कुछ न कुछ यानी देखने की कोई दृष्टि, समझने का कोई रास्ता। मुझे ऐसे अनेक अवसर याद हैं जब किसी अपेक्षाकृत अजनबी तक से उन्होंने कोई गहरी बात कही हो। यह इसलिए हो पाता था, क्योंकि उनके सहज व्यवहार में भी यह दृष्टि झिलमिलाती रहती थी कि सभी प्राणियों में उसी एक आत्मा का वास है।

मणि कौल

स्मृति शेष

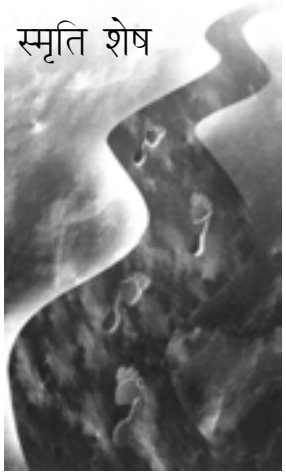

वे एक महान फिल्मकार थे, यह बात शायद सभी को पता हो। कुछ दशक पहले तक मणि कौल की फिल्म दिखाए बगैर कोई भी फिल्म क्लब चलता नहीं था। उनकी पहली ही फिल्म 'उसकी रोटी' ने उन्हें वैश्विक फिल्म जगत में अनूठे फिल्मकार की तरह स्थापित कर दिया था (शायद यही कारण है कि पिछले बरस जब बीबीसी ने सिनेमा के सौ साल पूरे होने पर दुनिया के सौ फिल्मकारों पर फिल्म बनाने का निश्चय किया तो उसमें भारत से केवल मणि थे)। मणि कौल की पहली फिल्म के साथ ही भारत में नए सिनेमा की शुरुआत हुई थी। तब तक बनी फिल्मों से बिलकुल अलग वह फिल्म अपनी धीमी गति के कारण चर्चा में आई, पर धीरे-धीरे यह बात स्पष्ट होना शुरू हुई कि उनकी फिल्मों में समय के सूक्ष्म तत्व को अनुभव करने के मार्ग खोजने का प्रयत्न हुआ करता है। यह कला मात्र की बुनियादी शर्तों में एक रही है। मनुष्य कला के सहारे ही काल के व्यापक तत्व को अनुभव के घेरे में ले आता रहा है।

इस फिल्म के बाद मणि ने मोहन राकेश के नाटक पर एक और फिल्म 'आषाढ़ का एक दिन' बनाई। यह फिल्म भी अपने ढंग की अनूठी फिल्म थी। संस्कृत के महाकवि कालिदास के जीवन पर आधारित यह फिल्म कलाकार के अंतरतम से संवाद करती है। इसके बाद आई उनकी बहुश्रुत फिल्म 'दुविधा'। यह फिल्म राजस्थान की एक लोक कथा पर आधारित विजयदान देथा की कृति पर थी। मणि ने यह फिल्म एक बिल्कुल साधारण कैमरे और नौसिखिए कैमरामेन के साथ बनाई थी, पर इस फिल्म को पूरी दुनिया में सराहा गया। बाद में इसी कहानी को आधार बना कर अमोल पालेकर ने एक बहुत ही साधारण फिल्म 'पहेली' नाम से बनाई। 'दुविधा' के पहले ही शॉट में जब पीपल का पेड़ नजर आता है, आप समझ जाते हैं कि इसमें कुछ अलग बात है। फिल्मकार को यह बताने की जरूरत नहीं पड़ती कि इसमें भूत का वास है। मणि की फिल्म में यथार्थ एक अलौकिक आयाम हासिल कर लेता था, उनकी फिल्म-दृष्टि इतनी अद्‌भुत थी कि उनका लिया हुआ हर शॉट किसी गहरी अंतर्दृष्टि से अनुस्यूत हुआ जान पड़ता था।

मणि ने इसके बाद मुक्तिबोध के जीवन और कृतित्व पर आधारित फिल्म 'सतह से उठता आदमी' बनाई। यह समूची फिल्म जागृत और स्वप्न अवस्थाओं के मिश्रण से तैयार हुई थी, जिसमें लेखक का कृतित्व, उसका जीवन और उसके स्वप्न सब गड्ड-मड्ड होते रहते हैं। फिल्म का भीतरी ढाँचा सांगीतिक होने के कारण उसका अर्थ जाने बगैर वह आपको गहरे तक आलोड़ित करती है : सच्ची कला की यही पहचान है, वह समझ में आने से पहले ही आपको सम्मोहित करती है, जीवन की तरह।

यह फिल्म कान (फ्रांस) के अंतर्राष्ट्रीय फिल्म समारोह में विशेष रूप से प्रदर्शित की गई थी। उस शो को देखने वालों में एक ऐसी फ्रांसिसी लड़की भी थी, जो इस फिल्म से इतनी प्रभावित हुई कि वह फिल्म कला सीखने पुणे के उस संस्थान में पढ़ने आ गई, जहाँ मणि भी पढ़ाया करते थे। इस फिल्म को लेकर हिन्दी के कुछ स्वनामधन्य फिल्म आलोचकों ने प्रश्न उठाए थे, जिसमें उनकी फिल्म माध्यम से यह अपेक्षा जाहिर होती थी कि वह अच्छी तरह समझ में आनी चाहिए। यह इतनी फूहड़ अपेक्षा है कि इस पर बहुत बात करना समय बर्बाद करने जैसा है, पर फिर भी यहाँ कुछ कहना ठीक होगा।

जिस तरह एक गूढ़ उपन्यास या एक नई ढंग की कविता को समझने के लिए गहरी समझ और संवेदना की ज़रूरत होती है वैसे ही नई तरह की फिल्म को समझने के लिए गहरे संघर्ष की आवश्यकता होती है। वह अपने दर्शक को नए और अजनबी रास्तों पर चलने को आमंत्रित करती है। इसी रास्ते वह रस ग्रहण करने की ओर बढ़ता है। इसी रास्ते दर्शक अपने सोचने की सामर्थ्य को पैना कर पाता है और वह यह समझ पाता है कि कला का रसास्वादन तश्तरी में रखे लड्डू खाने जैसा नहीं है। उसके लिए खुद दर्शक को भी पर्याप्त संघर्ष करना पड़ता है। यह करके फिल्म अपने दर्शक को सम्मान देती है। उसे कला का उपभोक्ता होने से बचाती है। इसके विपरीत जो फिल्में दर्शक को सहज प्राप्य होती हैं, वे दर्शकों को न सिर्फ उपभोक्ता में तब्दील करती हैं, बल्कि उन्हें नए ढंग से सोचने की ओर प्रवृत्त भी नहीं होने देती। ऐसा करने से बाजार की शक्तियों को ही बल मिलता रहा है। इसलिए यह कोई आश्चर्य की बात नहीं कि अपनी सरल फिल्मों के लिए जाने-जाने वाले श्याम बेनेगल जैसे फिल्म निर्माता दरअसल विज्ञापन की दुनिया से आए हैं। विज्ञापन से यही अपेक्षा है कि उसे सहज ग्राह्य होना चाहिए। पर कला से ऐसी अपेक्षा करना कला को बाजारू बनाने से कम नहीं है।

मणि ने अपनी सारी फिल्में अनुभव के नए और अनोखे मार्ग खोजने की खातिर बनाई। इसके लिए उन्हें पर्याप्त मुश्किलें उठानी पड़ीं, पर उन्होंने हमारे विज्ञापनकर्ता फिल्मकारों की तरह अपनी कला की शुद्धता की खातिर बाजार से समझौते नहीं किए। यह एक कलाकार के संघर्ष की बानगी नहीं तो और क्या है। मणि ने बाद के वर्षों में 'ध्रुपद', 'सिद्धेश्वरी', 'माटी मानस', 'आगमन', 'अहमक', 'नौकर की कमीज' आदि फिल्में बनाई। 'माटी मानस' टेराकोटा पर है। इस फिल्म का हर शॉट कुछ इस तरह है कि आपको यह अनुभव होता है कि आप कुछ बनाने की प्रक्रिया में शामिल हो रहे हैं। मानो पूरी फिल्म कोई गीली मिट्टी हो और वह आपके सामने तरह-तरह के आकार ग्रहण कर रही हो। ऐसी अद्‌भुत अनुभूति मुझे इस फिल्म को देख कर हुई थी कि मैं उसे शायद व्यक्त ही नहीं कर पाऊंगा। लगा कि यह फिल्म मानो मेरे ही हाथों से बन रही हो और मैं इसके रूप ग्रहण का एकमात्र साक्षी हूँ।

जो बात इस फिल्म में इतनी शिद्दत से महसूस हुई थी वह कमोबेश मणि की हर फिल्म में किसी न किसी स्तर पर होती ही थी। वे लगातार अपनी फिल्मों में भारतीय फिल्म की संभावना को बिना किसी उद्‌घोषणा के तलाशते रहे। उन्होंने हॉलीवुड की फिल्मों से बिल्कुल अलग फिल्में बनाने की कोशिश की और उसमें सफल भी हुए। यह काम उदाहरण के लिए सत्यजित राय ने भी नहीं किया। राय की फिल्मों का आदर्श आखिरकार हॉलीवुड की फिल्में ही थी। भारतीय विषय-वस्तु होने से कोई कलाकृति भारतीय नहीं हुआ करती, भारतीय होने का अर्थ एक ऐसी कला प्रक्रिया को अपनाना है, जिसकी जड़ें हमारी परंपरा में हों। सिर्फ जड़ें, मगर जो अपनी कल्पना में अनोखी हों। इसीलिए मणि की हर फिल्म, फिल्म निर्माण के इतिहास में मील का पत्थर है।

'ध्रुपद' और 'सिद्धेश्वरी' संगीत पर आधारित हैं। इनमें आप मणि कौल का ध्रुपद और दूसरी संगीत विषयक चिंतन महसूस कर सकते हैं। मैं नहीं समझता कि 'सिद्धेश्वरी' से अधिक सुंदर फिल्म बन सकती है और इसमें समयों का ऐसा मिश्रण है, जो सिर्फ संगीत में अनुभव किया जा सकता है। इस अर्थ में यह फिल्म संगीत 'पर' होने की जगह स्वयं 'संगीत' हो गई फिल्म है। शायद गुलजार इसे भारत की सबसे सुंदर फिल्मों में गिनाते हैं।

मणि कुछ बरसों के लिए हॉलैंड में बस गए थे। वहाँ रह कर भी उन्होंने कुछ डिजिटल फिल्में बनाई थीं। भारत लौट कर उन्होंने ओसियान फिल्म फेस्टिवल के निदेशक का कार्यभार संभाला। पर इन दिनों भी वे दो-तीन पटकथाओं पर काम करते रहे। एक फिल्म इतालवी फिल्मकार रोसेलिनी की भारत यात्रा के बहाने भारत की सभ्यता पर होने वाली थी। इस फिल्म की पटकथा मणि के साथ मैंने लिखी थी। यह फिल्म, फिल्म में स्थान की धारणा को हमेशा के लिए बदल देती, पर मणि के अस्वस्थ होने के कारण यह पूरी नहीं हो पाई। इस फिल्म में मणि और रोसेलिनी के आपसी सूक्ष्म संवाद के सहारे भारत की सभ्यता पर बड़े ही ऐंद्रिक ढंग से विस्तार होता।

हम ऊपर लिख आए हैं कि मणि ध्रुपद संगीत के अनन्य गुरु थे। यह बात बहुत लोग नहीं जानते हैं कि वे भारतीय संगीत के अद्‌भुत ज्ञाता और व्यवहर्ता थे। उनके अनेक शिष्य देश-विदेश में फैले हुए हैं। इन सभी को मणि बिना किसी आर्थिक प्रलोभन के बहुत डूब कर घंटों ध्रुपद सिखाया करते थे। ये सारे शिष्य मणि के साथ ही ठहरते थे और उन्हीं के साथ रह कर ध्रुपद और जीवन को और अधिक गहरे से जीने की शिक्षा पाते थे। जहाँ तक मुझे मालूम है, जितनी सेवा मणि ने अपने शिष्यों की की होगी उतनी सेवा उनके शिष्य चाह कर भी उनकी नहीं कर पाए।

वे खुद ध्रुपद के कमाल के गायक थे। जिन्होंने उनसे राग देस सुना है उनकी आँखों में उसके स्मरण मात्र से आँसू आ जाते हैं। मणि करीब दो बरसों से कैंसर से जूझ रहे थे। उन्होंने इस बीमारी की घोर पीड़ा को पूरे धीरज से बिना उफ किए सहा और छह जुलाई की रात अपने ध्रुपद गुरु जिया मोइनुद्दीन डागर का वीणा वादन सुनते-सुनते देह त्याग दी। मेरी दृष्टि में वे देश के महानतम कलाकारों में थे और उनका जाना मेरे जैसे उनके शिष्यों के लिए तो पीड़ादायक है ही, विश्व कला के लिए गहरे अवसाद का विषय है। मेरा माथा उनके प्रयाण पर झुका रह गया है।

साहित्य के 'कमांडर'

उनके जैसी जीवटता, विनम्रता, सदाशयता, सद्भावना हिन्दी की दुनिया में तो दुर्लभ ही है। वे उन कुछ लेखकों में थे, जिन्होंने अपने लेखकीय, आलोचकीय व्यक्तित्व को कभी इतना महत्व नहीं दिया जितना कि अपने संगठनकर्ता व्यक्तित्व को। उन्हें कथाकार रमाकांत श्रीवास्तव ने 'कमांडर' एक बार क्या कहा कि उनके तमाम मित्र उन्हें 'कमांडर' साहब कहकर ही पुकारने लगे।

आशुतोष कुमार

कमला प्रसाद

स्मृति शेष

प्रसिद्ध आलोचक प्रो. कमला प्रसाद का जीवन बचाने की कोशिश में लगे अखिल भारतीय आयुर्विज्ञान संस्थान (एम्स) के डॉक्टर अंततः असफल रहे और 25 मार्च की सुबह कमला जी ने अंतिम साँस ली। एक लेखक, आलोचक, संपादक के न रहने का गहरा अहसास तो सभी को है लेकिन उन जैसा संगठनकर्ता कम-से-कम साहित्य के क्षेत्र में तो दुर्लभ है। प्रगतिशील लेखक संगठन को, जिसका एक समृद्ध इतिहास रहा है, पुनर्जीवन देने का श्रेय अकेले किसी एक व्यक्ति को जाता है तो निस्संदेह वह प्रो. कमला प्रसाद ही थे। डेढ़-दो साल पहले तक उनके स्वास्थ्य ने उनका पूरा साथ दिया। जब स्वास्थ्य ने साथ छोड़ा तब जाकर मजबूरन वह भोपाल में टिके, जहाँ वे पिछले दो दशक से भी अधिक समय से रह रहे थे वरना भोपाल के लोग कहते थे कि वे भोपाल तो सिर्फ प्रवास पर आते हैं। कैंसर से लड़ने का माद्दा भी उनमें गजब का था और जब तब वे फोन पर किसी से बात कर सकते थे, मिल सकते थे, ऐसे दृढ़ और आशावान दीखते थे जीवन के प्रति, कि लगता था कि इतनी जल्दी मौत उनका कुछ नहीं बिगाड़ पाएगी।

मृत्यु से एक महीना पहले वे भोपाल में सुदूर कालीकट प्रगतिशील लेखक संघ के सम्मेलन में ट्रेन से 36 से 40 घंटे की यात्रा करके गए थे। उनके जैसी जीवटता, विनम्रता, सदाशयता, सद्भावना हिन्दी की दुनिया में तो दुर्लभ ही है। वे उन कुछ लेखकों में थे, जिन्होंने अपने लेखकीय, आलोचकीय व्यक्तित्व को कभी इतना महत्व नहीं दिया जितना कि अपने संगठनकर्ता व्यक्तित्व को। उन्हें कथाकार रमाकांत श्रीवास्तव ने 'कमांडर' एक बार क्या कहा कि उनके तमाम मित्र उन्हें 'कमांडर' साहब कहकर ही पुकारने लगे और शायद डॉ. नामवर सिंह के बाद वह ऐसे व्यक्ति हैं जिन्हें उत्तर से दक्षिण तक तथा पूर्व से पश्चिम तक प्रगतिशील जनवादी लेखकों की बिरादरी अच्छी तरह जानती थी। 'प्रगतिशील वसुधा' यद्यपि प्रगतिशील लेखक संघ का मुखपत्र है और इस नाते उन्हें संगठन की जरूरतों का भी ख्याल रखना पड़ता था। मगर इन सीमाओं के बावजूद उन्होंने इस पत्रिका को हिन्दी की कुछेक उल्लेखनीय लघु पत्रिकाओं में से एक बनाया है।

14 फरवरी को ही उन्होंने जीवन के 73 साल पूरे किए थे और सबको लगता था, शायद उन्हें भी लगता होगा कि वे कैंसर से जूझते हुए भी अगले कई वर्षों तक सबके साथ रहेंगे। उनकी उपलब्धियाँ उनके संगठक व्यक्तित्व से अलग भी अनेक रही हैं जिन्हें उनके इस संगठनकर्ता व्यक्तित्व ने छुपा दिया। करीब एक दर्जन उनकी आलोचनात्मक पुस्तकें हैं। वे बेहतरीन गद्यकार थे। मध्य प्रदेश कला परिषद् के निदेशक तथा केन्द्रीय हिन्दी संस्थान के उपाध्यक्ष भी रहे, हालांकि षड्यंत्रपूर्वक उन्हें हिन्दी संस्थान के इस पद से समय से पहले ही हटा दिया गया। रीवा के अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय में उन्होंने भोपाल के भारत भवन की तरह बहुआयामी कला केन्द्र 'अंतर्भारती' की स्थापना करवाई थी। हालांकि बाद में आने वालों की उदासीनता के कारण वह कभी भारत भवन वाली ख्याति न पा सकी। उन्हें शमशेर सम्मान देने की घोषणा कुछ समय पहले की गई थी और उनकी मृत्यु के दिन ही यह समाचार छपा कि उन्हें 2010-2011 का प्रमोद वर्मा स्मृति सम्मान दिया गया है, मगर उनके बेटे परितोष पांडेय ने इसे अस्वीकार कर दिया, यह कहते हुए कि जिस व्यक्ति के नेतृत्व में वह संस्थान चल रहा है उसका संबंध छत्तीसगढ़ में मानवाधिकारों के हनन से है।

लोग नहीं रहते लेकिन उनकी स्मृतियाँ दूर तक तथा देर तक साथ रहती हैं, उनमें कमला प्रसाद थे। ('शुक्रवार' से साभार)

किरदार

भुलवाराम

विनय उपाध्याय

चरणदास चोर, ज़मादारिन, बहादुर कलारिन, मिट्टी की गाड़ी, लाला शोहरत राय, गाँव के नाव ससुराल मोर नाव दामाद, आगरा बाज़ार, देख रहे हैं नैन... जैसी लोकप्रिय नाट्य प्रस्तुतियाँ जिन्होंने देखी हैं, भुलवाराम की छवियाँ भला कैसे धुंधली हो सकती हैं उनकी आँखों से। चुनौतीपूर्ण किरदारों को सहजता से जीवंत करने का माद्दा था इस कलाकार में।

''एक लोक कलाकार की मौत, दरअसल संस्कारों की भी मौत होती है''।

शिखर रंगकर्मी हबीब तनवीर का यह भावुक इजहार किसी किताब से उठाया वाक्य नहीं, उनकी लंबी रंग-यात्रा के संगी रहे छत्तीसगढ़ी कलाकार भुलवाराम यादव के इंतकाल के बाद उन्होंने भावुक होकर यह उद्‌गार भोपाल की बिरादरी से साझा किया था। लेकिन एक लोक कलाकार का अवसान अगर संस्कारों की भी महान क्षति है तो मीडिया की आधुनिक मंडियों का दुर्भाग्य से ऐसी खबरों से कोई वास्ता नहीं।

निहाल थे दर्थक उस देशी हुनर पर

भुलवा को गुजरे पाँच साल होने आए। छत्तीसगढ़ के इस अनूठे नाचा कलाकार ने पुश्तैनी गाँव रिंगनी में आखिरी साँसें गिनी थीं। भोपाल में चिल्ड्रन थियेटर अकादेमी ने गाँधी भवन परिसर स्थित अपने परकोटे में श्रद्धांजलि सभा आयोजित की, तो शहर की इस बड़ी रंग बस्ती के पच्चीस कलाकार भी मौजूद नहीं थे। हबीबजी, उनके नया थिएटर के कुछ कलाकार और गिनती के लेखक-संस्कृतिकर्मी मिलकर भुलवाराम के भोले अतीत का सुमिरन कर रहे थे। यह हमारे समय की त्रासद सचाई है कि अभी भी निष्कलुष मन से हमारा समाज प्रचार-प्रसार और लोकप्रियता से बेफिक्र कलाकारों के अवदान का आभार मानने और उनकी मृत्यु पर शोक जताने में कितना कृपण है। लेकिन सच्चे साधक कभी अपनी साधना के दिन नहीं गिनते और न ही प्रतिदान की कोई अपेक्षा उनके मन में होती है। भुलवाराम की अस्सी बरस की ज़िंदगी भी ऐसी ही निस्पृह, निःस्वार्थ बीती। अपने गाँव की चौहद्दी लाँघकर समंदर पार के देशों तक नाचा की महक बिखेरने वाले इस लोकरंगी कलाकार ने आधुनिक रंगमंच पर जिस ठसक के साथ अपनी उपस्थिति दर्ज की, उन छवियों का धुंधलाना आसान नहीं।

भुलवाराम के कला-जीवन की कथा संयोग की दास्ताँ है। बात 1958 की है। हबीब तनवीर के मन में 'नया थिएटर' का सपना अंगड़ाई ले रहा था। वे आधुनिक रंगमंच पर छत्तीसगढ़ी लोक संस्कृति के नृत्य को लेकर नाटक की नई प्रतिष्ठा के इच्छुक थे। इसी खोजबीन के चलते दुर्ग के निकट रिंगनी गाँव में एक रात खुले आकाश तले नाचा का जंगी जलसा उन पर जादुई असर कर गया। उनकी नज़र ऊँची आवाज़ में तर्ज़ बदल-बदलकर गा और नाच रहे एक कलाकार पर पड़ी। इस हट्टे-कट्टे, खुशमिजाज युवक से नाम पूछा तो बताया- 'भुलवाराम'। जिस चीज़ का आखेट करने हबीबजी निकले थे, उन्हें वह मिल गई। पहली ही नज़र में भुलवा उन्हें भा गया। उन्होंने इस ठेठ किसानी नवयुवक से जब रंगमंचीय रिश्ते का अनुरोध किया तो भुलवा ने अपना पूरा जीवन ही अभिनय को समर्पित कर दिया। गाँव की चौहद्दी और घर-बार दूर हो रहा था, लेकिन अपनी मिट्टी की महक और संस्कारों से साँसों का जो गहरा नाता था, उसकी कसम साथ थी।... और चल पड़ा यह देसी फनकार देश-दुनिया की सैर पर।

हबीबजी हतप्रभ थे भुलवाराम की प्रतिभा पर। अनपढ़ और कहने की खांटी गवार लेकिन अपने फन में इस कदर माहिर कि नाटक की हर चुनौती को पार करने की अदम्य क्षमता। सुन-सुनकर नाटक के संवाद याद करते। फिर नाटक लोककथा पर आधारित हो, आधुनिक कथानक लिए हो या फिर शूद्रक और शेक्सपीयर जैसे क्लासिक लेखकों की विषय भाषा की जटिलताओं से भरे क्यों न हो। लंबे-लंबे वाक्य उनके साथ जुड़े नृत्य और संगीत के दृश्य, अन्य पात्रों की संगति और मंच का विधान... सब कुछ पूरे अनुशासन के साथ जीने में पारंगत। हबीबजी कृतज्ञ भाव से देश-दुनिया की रंग-यात्राओं को याद करते- तो भुलवा के कई आत्मीय बिंब बात-बात पर उनकी

आँखों में उभरते। चरणदास चोर, ज़मादारिन, बहादुर कलारिन, मिट्टी की गाड़ी, लाला शोहरत राय, गाँव के नाव ससुराल मोर नाव दामाद, आगरा बाजार, देख रहे हैं नैन... जैसी लोकप्रिय नाट्य प्रस्तुतियाँ जिन्होंने देखी हैं, भुलवाराम की छवियाँ भला कैसे धुंधली हो सकती हैं उनकी आँखों से। चुनौतीपूर्ण किरदारों को सहजता से जीवंत करने का माद्दा था इस कलाकार में। हबीबजी कहते थे- 'भुलवा की आवाज़ पर मुझे हैरानी होती थी। गजब की रेंज थी उसके पास। याददाश्त भी कमाल की। बड़े-बड़े डायलॉग बिना किसी अवरोध के वह बोल लेता था। मैं उसके हुनर पर रश्क करता हूँ।''

2004 के साल में छत्तीसगढ़ सरकार ने अपने राज्य के अप्रतिम नाचा कलाकार के नाते भुलवाराम को एक लाख रुपए के दाउ मंदराजी सम्मान देने की घोषणा की, तो बुढ़ापे की मार झेल रहे भुलवा के लिए यह सूचना अपार प्रसन्नता लेकर आयी। थकी देह में चेतना का संचार हुआ। मौसम की चौखट पर दस्तक दे रहे जाड़े की एक गुनगुनी दोपहर संस्कृतिकर्मी सुनील मिश्र के घर भुलवा भोजन के लिए आमंत्रित थे। मैंने भी यह अवसर नहीं गँवाया। सम्मान की बधाई दी तो भुलवा ने कहा- ''अब इस उमर में एक लाख रुपए का अपने लिए क्या करूँ? बच्चों के काम आएँगे। हाँ, छत्तीसगढ़ सरकार से मौका मिलेगा तो कहूँगा कि नाचा को बचाने के लिए सरकारी स्तर पर जरूर कुछ करें।''

उस दिन भुलवा आँखों पर काला चश्मा लगाए थे, दो दिन पहले मोतियाबिंद का ऑपरेशन भोपाल के ही एक सरकारी अस्पताल में हुआ था। वे 'नया थिएटर' छोड़ चुके थे, लेकिन यादों के साये तो उम्रभर पीछा नहीं छोड़ते। बातों का सिलसिला शुरू हुआ तो भुलवाराम अतीत को टटोलते हुए बहुत पीछे छूट गए अपने गाँव, अपनी माँ, पत्नी, दोस्तों तक पहुँच गए। भारत के बड़े शहरों से लेकर अमेरिका, जर्मनी, लंदन, रूस, जापान और इटली तक की सैर कर आए। कभी किसी घटना को याद कर खिलखिलाकर हँसे, तो किसी घटना पर फफक कर रो पड़े।

जीवन के रंगमंच पर बुढ़ापे की त्रासद सचाई जी रहे एक कलाकार से सामना करने के ये भावुक क्षण थे- ''पेड़ लाख चाहे लेकिन शाख से टूट पत्ते भला उसे कहाँ नसीब होते हैं''।

मिसाल/**प्रहलाद सिंह टिपाणिया**

एक साधारण छात्र की तरह प्रहलाद सिंह टिपाणिया ने भी कबीर की साखियां परीक्षा में दस नंबर पक्के करने के लिए ही रटी थीं क्योंकि हर बार कबीर की साखियाँ प्रश्नपत्र में अनिवार्य रूप से पूछी जाती थीं। परीक्षा का सिलसिला खत्म हुआ और साखियाँ किताबों में ही कहीं रह गईं। उस वक्त उन्हें नहीं मालूम था कि एक दिन यही कबीरदास उनके जीवन का अभिन्न अंग बन कर उन्हें आत्मिक शांति के साथ शोहरत की बुलंदियों पर पहुँचा देंगे और वह मध्य प्रदेश के मालवा का नाम रोशन कर निर्गुण मालवी लोक शैली के कबीर गायक बन जाएंगे। बरसों बाद 24 साल की उम्र में यह युवक मध्य प्रदेश के काठबड़ौदा में सरकारी माध्यमिक विद्यालय में शिक्षक नियुक्त हो गया तो एक दिन देवास जिले के गोरखेड़ी गांव में जाना हुआ। वहाँ नाथ संप्रदाय के भीमपुरी महाराज अपने तंबूरे पर तल्लीनता से कुछ गा रहे थे। टिपाणिया को साज ने बहुत प्रभावित किया। प्रभाव ऐसा कि लगा- नहीं सीखा तो जीवन का कोना रीता रह जाएगा।

टिपाणिया कहते हैं- 'मुझे न तब गाना आता था न इसका कोई शौक था। मैं तो बस तंबूरे से प्रभावित हुआ और उसे बजाना सीखना चाहता था। मैंने महाराज से अनुरोध किया और उन्होंने हामी भर दी। तंबूरा सीखने के लिए मैं काठबड़ौदा से भीमपुरी महाराज के गाँव गोरखेड़ी रहने चला गया। वहीं से स्कूल की नौकरी करने जाता था। बाद में आकर महाराज से तंबूरा सीखता था। महाराज जी ने सलाह दी कि कुछ गाना भी साथ

गगन में आवाज़ होवे भीणी...

आकांक्षा पारे काशिव

गाओ। गाने से तंबूरे की धुन जल्दी पकड़ में आएगी।' इस तरह मध्य प्रदेश के उज्जैन जिले के लुनियाखेड़ी में जन्मे प्रहलाद सिंह टिपाणिया ने लोक संस्कृति के उस अथाह समुद्र में छलांग लगा दी जहां पाने के लिए दामन भर और खोने के लिए तिनका भी न था। कबीर की साखियां गाएंगे, इस सोच के साथ वह इस पथ पर नहीं चले थे। वह गाते और लोग पसंद करते। बस यह सिलसिला चल पड़ा। उन्होंने कबीर को समझा और

जाना कि व्यावहारिक दुनिया में भी उनका महत्व है। वह जो लिख गए हैं वह आज तक हो रहा है। कबीर के एक भजन की पंक्ति, जिसमें उन्होंने सेमल के फूल की चर्चा की है, ने टिपाणिया के अंतस को समुद्र मंथन की तरह मथ डाला। पंक्तियां थीं- 'खेती करे तो थानूं समझ बताऊं, बलदल्या ने दुख मत तीजे। ओछी संगत, नाहर भुगतावे, घरे ही बैठो रीजे। मन रे तू ऐसी खेती कीजे।' इसका जो अंतरा था वह उन्हें उस निर्गुण उपासक का दास बना गया, 'रूला (सेमल) का फूला थारे लागे सुहावणों, सर साठे मत लीजे, ओसर खेत बीज मत बीजे, ऐसी खेती कीजे।' इसका अर्थ है, सेमल का फूल तुझे अच्छा लगता है पर तू उसके पीछे मत भाग क्योंकि वह तेरे हाथ नहीं आएगा। जैसे बंजर खेत में बीज बोने का कोई परिणाम नहीं मिलता। टिपाणिया कहते हैं, 'सेमल का फूल देखने में सुंदर होता है। लेकिन यदि कोई पक्षी भी चोंच मार दे या उसे तोड़ने की कोशिश करे तो वह बिखर जाता है। मुझे लगा कबीर ने कितना सच कहा है। और

बस यहीं से मेरे मन में उनके प्रति श्रद्धा का भाव जाग गया।' इन पंक्तियों ने उनके जीवन में बदलाव ला दिया और इसके बाद उन्होंने भीमपुरी महाराज से दीक्षा ले ली। विज्ञान का यह शिक्षक प्रकृति के विज्ञान को समझने और लोगों को समझने की मुहिम में जुट गया। गांव की भजन मंडली रामदेव जी महाराज, मीरा बाई, राम कृष्ण के भजन गाती थी। लेकिन टिपाणिया कबीर गायकी के ध्वजवाहक हो गए। टिपाणिया के कई विदेशी प्रशंसक हैं जो चाहते हैं कि वह समय-समय पर विदेशों में अपना कार्यक्रम दें। इन सब के बावजूद वह अंदर से वही खांटी इंसान हैं, जिसके अंदर दूसरों को इज्जत देने की तहजीब जन्मजात है। टिपाणिया कोई दिखावा नहीं करते, न बताते हैं कि वह कितने बड़े लोक कलाकार हैं। तभी शायद भारत सरकार को खुद लोगों को यह बताना पड़ा कि दरअसल अपना काम चुपचाप करते जाने वाला यह कलाकार कितना बड़ा है। इसी वर्ष 26 जनवरी को जब उन्हें पद्मश्री मिलने की घोषणा हुई तो वह लुनियाखेड़ी में अपनी दिनचर्या में व्यस्त थे। दिल्ली से उन्हें किसी प्रशंसक ने फोन किया तो उनका जवाब था, 'अच्छा मजाक है।' उन्होंने कभी अपने तसव्वुर में इनाम अवॉर्ड, सम्मान जैसे शब्दों को जगह दी ही नहीं। वह कहते हैं, 'मेरे कई शुभचिंतक कहते हैं कि आपको यह देर से मिला तो मैं कहता हूं अरे देर तो उसे लगेगी न जिसे पता हो कि यह बात होने वाली है। मैंने तो कभी उम्मीद ही नहीं की थी। सो जब मिला ठीक ही मिल गया।'

खादी के साधारण कुरते और चुनरी प्रिंट का साफा बांध कर जब वह एक हाथ में तंबूरा और दूसरे में खड़क लेकर आँखें मूंद कर, 'सुनता है गुरु ज्ञानी, गगन में आवाज होवे झीणी...' की टेर लगाते हैं, तो माहौल दिव्य हो उठता है। वह कभी सोच कर नहीं आते कि फलां गाएंगे और फलां नहीं गाएंगे। न ही वह अपने भजनों या साखियों में जबर्दस्ती मालवी के शब्द ठूँसते हैं। जहां सहज रूप से शब्द आ जाता है वह उसे रख लेते हैं। वह जब स्टेज पर बैठते हैं, तो श्रोताओं का मन भाँप लेते हैं। वह ऐसी साखियां या भजन गाना पसंद करते हैं, जो श्रोताओं को हौले-हौले अध्यात्म की अतल गहराइयों में ले जाए। भजन-दर-भजन जब माहौल गहराने लगता है तो वह लोक गायकी की उंगली थमा कर श्रोताओं को किसी दूसरी दुनिया की सैर पर ले जाते हैं। उन्हें इससे कोई मतलब नहीं होता कि वह जहां गाने आए हैं वहां से कितना पैसा मिलेगा या कौन बड़ा आदमी सुन कर उन्हें वाह-वाही देगा। वह तो बस उस निर्गुण उपासक संत की वाणी को जनमानस में पहुँचाना चाहते हैं, जिसने लगभग सात सौ साल पहले सभी को एक नज़र से देखा था। वह कहते हैं, 'मेरा परिवार मेरा बहुत बड़ा संबल रहा है। पत्नी शांति देवी का साथ न मिला होता तो शायद यहां तक पहुँचना मुश्किल था। घर पर इतने लोग आते जाते हैं, पर वह चेहरे पर एक भी शिकन लाए बिना सभी के स्वागत-सत्कार में जुटी रहती है। यह मेरे लिए गर्व और सुकून दोनों की बात है।' वह 1978 से आकाशवाणी से गा रहे हैं। लगभग पूरे भारत में वह अपना कार्यक्रम दे चुके हैं। विदेश बहुत ज्यादा नहीं गए लेकिन जब कभी गए हैं, उन्होंने महसूस किया है कि वहाँ श्रोता गंभीरता से संगीत सुनते हैं। अमेरिका से जब लिंडा हेस भारत आईं तो उनसे इतना प्रभावित हुईं कि पूरा साल उनके साथ गाँव में रहीं। लिंडा स्टैनफोर्ड विश्वविद्यालय में भारतीय धर्म और दर्शन के अंतर्गत कबीर पढ़ाती हैं। अपने शोध कुमार गंधर्व और मालवी लोकगायकी का तुलनात्मक अध्ययन में उन्होंने टिपाणिया को मालवी शैली का अनोखा कलाकार कहा है। लिंडा उन्हें अमेरिका ले गईं और करीब 20 विश्वविद्यालयों में उनके कार्यक्रम हुए।

वह बहुत बड़ी-बड़ी योजनाएँ नहीं बनाते। कहते हैं, 'जो लोग बहुत योजना के साथ चलते हैं, खूब पैसा कमाते हैं, वह भी साथ कुछ नहीं ले जा पाते। एक सुनामी या भूकंप सब अपने साथ बहा ले जाता है। इसलिए भागदौड़ का क्या फायदा।' उनकी बस छोटी सी ख्वाहिश है। वह अपने गांव लुनियाखेड़ी का नाम 'कबीर नगर' कराना चाहते हैं। मालवी लोक शैली का स्कूल खोलने की इच्छा है ताकि नई पीढ़ी कबीर और उनकी विचारधारा को आत्मसात कर सके।
(आउटलुक)

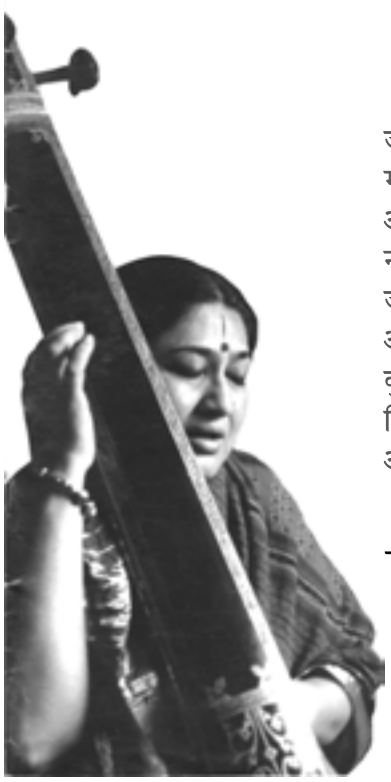

जीवन की हर गति बाज़ार धन और मुनाफे से नहीं तय होती। जीवन इसके आगे भी बहुत कुछ है। वह सिर्फ देह नहीं, आत्मा भी है।

-शुभा मुद्गल

जीवन सिर्फ देह नहीं, आत्मा भी

लगता है कि गुजरते वक्त के साथ साहित्य, कला की समस्त विधाओं पर बस एक ही चीज़ हावी होती जा रही है वह है- बॉलीवुड। चारों ओर सिर्फ बॉलीवुड, बॉलीवुड की हस्तियों का ही बोलबाला है। किसी को ठहरकर यह सोचने की जरूरत नहीं कि कला का कोई और रूप भी हो सकता है। हमारी अंतर्राष्ट्रीय स्तर पर पहचान बन रही है, लेकिन सिर्फ सिनेमा की और वह भी बॉलीवुड सिनेमा की। बराक ओबामा आते हैं तो भी बॉलीवुड के गाने बजते हैं। कोई नई फिल्म रिलीज़ होते ही फिल्मी कलाकार टेलीविजन के पर्दे पर आकर समाचार पढ़ने लगते हैं। हर जगह सिर्फ उन्हीं सितारों को महत्व दिया जाता है। हम यह स्वीकार ही नहीं करते कि शास्त्रीयता भी कला का रूप हो सकती है और वह भी उतने ही सम्मान और महत्व की हकदार है।

बड़े मीडिया हाउसों में भी बॉलीवुड ही कला का प्रतिनिधित्व करता है। यह स्थिति चिंतनीय है। पिछले दिनों हमारे दो महत्वपूर्ण कलाकारों का ग्रैमी अवॉर्ड के लिए नामांकन हुआ। एक हैं मशहूर तबला वादक संदीप दास और दूसरे सारंगी वादक ध्रुव घोष। इतनी महत्वपूर्ण उपलब्धि के बाद भी उनका कहीं जिक्र भी नहीं है। क्या हम एक ऐसा समाज रच रहे हैं, जहाँ संगीत कला सिर्फ मुन्नी बदनाम हुई तक ही सीमित होगी। क्या संस्कृति की आत्मिक गहनता के नाम पर हम अपने बच्चों को सिर्फ यही दे पाएंगे? क्या हमारी सांस्कृतिक समझ या हमारे कला चिंतन का दायरा इसके आगे नहीं जाता? हम बच्चों को बचपन से ही सिखाते हैं कि ये कैमरा बहुत महंगा है, इसे संभालकर रखना। महंगे मोबाइल को संभालकर इस्तेमाल करना। लेकिन क्या हमने उन्हें कभी यह सिखाया कि दादी जो गाना गाती है, वह बहुत कीमती है उसे भूल मत जाना। संभालकर रखना। नानी त्यौहार पर जो गीत सुनाती हैं, उसे भी हमेशा याद रखना। हम कभी अपने बच्चों को उन सांस्कृतिक धरोहरों का महत्व नहीं समझाते और न कहते हैं कि इन्हें सहेजकर, बचाकर रखना। हमें बस वही बचाना है, जिसमें पैसा लगा है। सिर्फ धन को सहेजना है।

किसी भी समाज के विचारों और चिंतन की ऊंचाई उस समाज की सांस्कृतिक गहराई से तय होती है। और गुजरे सालों में यह गहराई कम होती गई है। सन् 2005 और 2006 में सरकार को बच्चों के पाट्यक्रम में कला को अनिवार्य करने का सुझाव दिया गया था और उस पर सहमति भी बन गई थी। लेकिन वह अब तक लागू नहीं हो पाया है। उम्मीद की जानी चाहिए कि इस वर्ष वह संभव हो पाएगा। यदि यह लागू होता है तो हमें परफार्मिंग आर्ट से ज्यादा कला के शास्त्रीय पक्ष पर जोर देना चाहिए। यह बहुत जरूरी है कि बच्चों और आने वाली पीढ़ियों को बचपन से ही कला को समझने और उसका सम्मान करने का संस्कार दिया जाए। उनके लिए संगीत का अर्थ सिर्फ फिल्मी संगीत भर न हो। वह अच्छे चित्र, अच्छे संगीत और गंभीर अर्थपूर्ण सिनेमा को समझें और उसके साथ जिएं।

वर्ष 2011 में कुछ ऐसे बदलाव होते जा रहे हैं, जिससे मुझे काफी उम्मीदें हैं। सरकार कॉपीराइट कानून में कुछ महत्वपूर्ण परिवर्तन करने जा रही है जो इस वर्ष लागू होंगे। यदि कॉपीराइट कानून बदल गया तो कलाकारों की स्थिति थोड़ी मजबूत होगी। दूसरी महत्वपूर्ण चीज है इंडिपेंडेंट पब्लिशिंग जो इसके पहले किसी कलाकार को अपनी कला को लोगों तक पहुँचाने के लिए किसी बड़ी म्यूजिक कंपनी का मोहताज होना पड़ता है। लेकिन इंटरनेट ने इसे मुमकिन बना दिया है कि किसी कंपनी के आसरे बैठे रहने के बजाय कलाकार खुद इंटरनेट के माध्यम से अपनी कला को जन-जन तक पहुँचा सकते हैं। यह आत्मनिर्भरता बहुत महत्वपूर्ण भूमिका अदा करेगी, ऐसी मुझे उम्मीद है। यह वर्ष भारतीय कला-संगीत के क्षेत्र में विविधता का भी साल होगा। कव्वाली और गज़ल जैसी विधाएँ जो लगभग विलुप्त होती जा रही थीं, अब उनकी भी रिकार्डिंग हो रही है और उन्हें जिंदा रखने का प्रयास किया जा रहा है।

कला जीवन के लिए ठीक वैसे ही अनिवार्य और हमारे अस्तित्व का हिस्सा हो, जैसे कि हमारी साँसें हैं। निश्चित ही इसी राह से बेहतर मनुष्यों का निर्माण किया जा सकता है और बेहतर मनुष्य ही मिलकर बेहतर समाज बनाते हैं। जीवन की हर गति बाजार धन और मुनाफे से नहीं तय होती। जीवन इसके आगे भी बहुत कुछ है। वह सिर्फ देह नहीं, आत्मा भी है।

आस्वाद और आकलन / डॉ. रेखा कस्तवार

संदर्भ : टोपी शुक्ला

निर्देशन - जावेद ज़ैदी प्रस्तुति - संभावना

स्थान - भारत भवन, भोपाल

यकीन की हदों में महफूज़ इंसानी रिश्ते

नाटक 'टोपी शुक्ला' का विषय हिन्दुस्तान की सरज़मीं का एक ऐसा प्रश्न है, जिससे हम न सिर्फ स्वतंत्रता आन्दोलन के दौरान बल्कि आज भी जूझते रहे हैं। जैसे रज़ा साहब (राही मासूम रज़ा) लिखते वक्त जूझ रहे थे, दिनेश नायर नाट्य रूपान्तर करते वक्त, जावेद ज़ैदी निर्देशित करते वक्त और दर्शक देखते वक्त।

हिन्दु-मुसलमानों का प्रश्न नेताओं, धर्म ध्वजाधारियों, गुण्डों, दंगाइयों के लिए भले ही अपनी ताकत दिखाने का मौका हो, वैमनस्य की फाड़ चौड़ा करने का हो... दोस्ती के लिए मजहब की भूमिका प्रश्न चिह्न है तब भी, जब टोपी शुक्ला मुसलमानों से नफरत करता है और इफ्फन हिन्दुओं से। तमाम नफरतों के बावजूद नाटक अलीगढ़ मुस्लिम यूनिवर्सिटी के एक विशेष कालखण्ड के बहाने इन्सानी रिश्तों के पक्ष में अपना विश्वास व्यक्त करता है। दोस्ती का रिश्ता, राखी का रिश्ता इन्सानियत का रिश्ता है, नाटक स्थितियों को इस कोण से देखता है। हिन्दु-मुसलमानों के प्रश्न को केन्द्र बनाकर जब भी कुछ रचा जाता है, अक्सर केन्द्र में वैमनस्य, दंगों, नारों आन्दोलनों और भाषण बाजी को रखा जाता है। यह नाटक दंगों से कथानक बुनते हुए भी, दंगों को केन्द्र में नहीं रखता। नाटक इस तथ्य को केन्द्र में रखता है कि 'घर पर एक आदमी मरता है, बलवाईयों द्वारा पूरी परम्परा मरती है, सभ्यता मरती है, इतिहास मरता है।' नाटक तमाम नफरतों और वैमनस्य के बीच इंसान और इंसान के बीच संवाद का सेतु कायम रखता हुआ भविष्य की सम्भावना को भी फोकस करता है, महत्वपूर्ण है जावेद ज़ैदी का विजन इसे महत्वपूर्ण बनाता है।

जैसा कि राही मासूम रज़ा भी कह चुके हैं, नाटक का मुख्य पात्र समय है। यह बदल कर भी नहीं बदलता। लगातार आवाजाही करता रहता है। चाहे स्वतंत्रता पूर्व का इलेक्शन हो, स्वतंत्रता के तत्काल बाद अथवा आज का। सम्प्रदाय में जकड़ा आदमी जन्म से अपना सम्प्रदाय अपनी मर्जी से नहीं चुनता। सम्प्रदाय की बंदिशें स्वतंत्र विचार, व्यक्तित्व चुनने में अवरोध पैदा करती है, आम आदमी भीड़ की तरह सोचता नहीं है, दंगे फसाद उसे भीड़ की तरह सोचने और व्यवहार करने पर विवश करते हैं। स्वतंत्र चेता की यह छटपटाहट - 'हिन्दुस्तानी कहाँ जाएँ?' ...'इस मुल्क में टोपियों इफ्फनों के लिए कोई जगह नहीं है,' आज हर टोपी और इफ्फन अकेला है'। जो भीड़ की तरह व्यवहार नहीं करते बदनाम किए जाते हैं, नौकरी से निकाले जाते हैं। मार दिए जाते हैं अथवा आत्महत्या कर लेते हैं। यह आत्महत्या बुजदिली नहीं है। सूत्रधार का अन्तिम वक्तव्य नाटक के महत्वपूर्ण प्रभाव को बदल देता है।

टोपी की आत्महत्या पर सूत्रधार हमसे साझा करता है कि 'यह कोई खुशी की बात नहीं है क्योंकि आत्महत्या सभ्यता की हार है। परन्तु टोपी के सामने कोई और रास्ता नहीं था। ...हम लोगों में और टोपी में केवल एक अन्तर है। हम लोग कहीं न कहीं किसी न किसी अवसर पर कॉम्प्रोमाइज़ कर लेते हैं, और इसीलिए हम लोग जी भी रहे हैं. टोपी कोई देवता या पैगम्बर नहीं था। उसने कॉम्प्रोमाइज नहीं किया इसीलिए आत्महत्या कर ली। आत्महत्या के पक्ष में यह वक्तव्य नाटक का प्रभाव बदल देता है और दर्शक सभागृह से यह सवाल लेकर बाहर निकलता है कि क्या इस कॉम्प्रोमाइज़ से मुक्ति का कोई रास्ता नहीं, क्या खुली सांसें हर हिन्दुस्तानी के नसीब में नहीं?

नाटक समानान्तर ही दो और प्रश्नों पर फोकस करता है भाषा और स्त्री के प्रश्न पर ये दोनों ही प्रश्न सभ्यता और संस्कृति की ज़मीन के महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। भाषा किसी मजहब की बपौती नहीं होती। लम्बे समय तक हमारे देश में थी भी नहीं, इसलिए टोपी की दादी बढ़िया फारसी बोलती हैं। मौलवी साहब हिन्दू बच्चों को उर्दू पढ़ाते वक्त फर्क नहीं करते। लेकिन समय के साथ भाषा को मजहब से जोड़ दिया जाता है, मौलवी साहब की यह तकलीफ है कि अब कोई हिन्दू बच्चा उर्दू पढ़ने नहीं आता। मुशायरा मुसलमानों के हिस्से आता है और कवि सम्मेलन हिन्दुओं के। नफरतें तीज-त्यौहारों का बंटवारा करती हैं, भाषा में अलगाव पैदा करती है। भाषा का यह मेरा-तेरापन हमें सांस्कृतिक रूप से कमजोर करता है।

सकीना के बहाने नाटक रिश्तों के बारीक रेशों को गहरी संवेदना के साथ बुनता है, उसकी उधेड़ बुन को भी। पिता के हत्यारों से वह नफरत करती है, किन्तु महेश और रमेश (भाई) की राखियाँ साल-दर-साल सहेज कर रखती है। व्यक्त तौर पर भले ही कहती रहती हो कि मैं राखी नाली में फेंक देती हूँ जिस तरह मेरे अब्बा की टोपी नाली में फेंक दी गई थी। यह कॉम्पलीकेटेड चरित्र जिन्दगी के बेहद करीब और वास्तविक हैं, इस जटिल चरित्र को इंदिरा तिवारी ने सकीना के रूप में बखूबी निभाया है। टोपी और सकीना के रिश्तों को गलत साम्प्रदायिक रंग दिया जाता है, बवाल उठता है जो दंगों में तब्दील हो जाता है, लेकिन सकीना इस बदनामी से विचलित नहीं होती, टोपी की देखभाल करने उन दंगों के बीच भी सर उठाए रोज अस्पताल जाती है। टोपी (अंशपायन अंशु) और इफ्फन (तारिक दाद खाँ) भी व्यवस्था के दिए द्वन्द्व को बखूबी निभाते हैं। बचपन के टोपी और इफ्फन और बाद में इफ्फन की बेटी शबनम के मासूम सवाल हमें, हमारे वक्त को कटघरे में खड़े करते हैं। इफ्फन की चिन्ता है कि 'नफरत शक और डर अब यह तीन लब्ज आने वाली नस्लों में बोए और काटे जा रहे हैं। बच्चे बेबी मुकदस, सक्षम शर्मा और शशांक मणि पांडे अपने स्वाभाविक अभिनय से दर्शकों को खासे प्रभावित करते हैं।

वाजिद भाई की चाय की दुकान मंच का महत्वपूर्ण स्थल है। अलीगढ़ विश्वविद्यालय के बाहर की यह दुकान जैसे अन्दर की दुनिया देखने की महत्वपूर्ण खिड़की है। यही वाजिद भाई के पात्र भी महत्वपूर्ण बनाती है। तब और भी महत्वपूर्ण जब सिर्फ जरा सा 'गेटअप' (गमछा) बदल कर वाजिद भाई (हरीश वर्मा) सूत्रधार की भूमिका में चले आते हैं। यूँ किसी भी नाटक में सूत्रधार का अधिक हस्तक्षेप नाटक की कमजोर कड़ी माना जाता है किन्तु 'टोपी शुक्ला' उपन्यास के इतने बड़े कलेवर के सीमित अवधि के नाटक में रुपान्तरित करने और अभिनीत करने के लिए यह नाटक 'सूत्रधार' का बेहतर उपयोग करता है। दृश्य परिवर्तन के मध्य मंच व्यवस्था के बदलाव में लगने वाला समय यूं तो अधिक नहीं है किन्तु बार-बार दृश्य परिवर्तन में यह श्रम और समय का अपव्यय करता है। नाटक की अवधि को बेवजह बढ़ाता है। नाटक में साबरी बंधुओं की मंच पर सीधी भागीदारी नाटक प्रभाव को बढ़ाने में मदद करती है। पार्श्व संगीत खाली स्पेस तराशता है। प्रकाश व्यवस्था के बेहतर संयोजन की अपेक्षा नाटक के प्रभाव को बढ़ाने के लिए जरूरी लगती है। जावेद ज़ैदी की 'आँख' को सलाम करने का मन करता है जो अलगाव की आग के बीच दोस्ती की गरमाहट को तवज्जो देती है। बिना प्रोग्रेसिव विजन के यह सम्भव कहाँ था?

'खाला कमाल की'

नाटक में ढलता किरदार

-रफी शब्बीर

कोई भी किरदार अचानक पैदा नहीं होता, बल्कि किसी घटना या व्यक्ति के प्रभाव से पैदा होता है। ऐसा ही कुछ मेरे नये नाटक 'खाला कमाल की' के किरदार खाला के साथ हुआ। अल्लामा इकबाल साहित्य प्रभाग ने एक नाट्य लेखन कार्यशाला आयोजित की थी जिसका मकसद इकबाल की कृतियों पर नाटक लिखना था। इस कार्यशाला में रंगमंच से जुड़ी कई हस्तियाँ भी शामिल थीं जिनमें इकबाल मजीद, इकबाल मसूद, सतीश मेहता, विभा मिश्रा, खालिद आबिदी, इरफान सौरभ आदि शामिल थे। मैंने अपने नाटक के लिये इकबाल के भोपाल प्रवास को सब्जेक्ट बनाया। इसमें इकबाल नजर नहीं आते मगर भोपाल के हर तबके के लोगों के माध्यम से इकबाल पर ही बातचीत चलती रहती है जिसे खास लोगों के माध्यम से अल्लामा इकबाल के व्यक्तित्व और कृतियों पर पटियागोई दिखाई गयी थी, जिसमें ताँगेवाला और भिश्ती जैसे आम किरदार भी मौजूद थे।

अल्लामा इकबाल साहित्य प्रभाग ने इस नाटक को मंचन के लिये चुन लिया था और विभा मिश्रा इसे निर्देशित करने वाली थीं, मगर उनकी बिगड़ती सेहत की वजह से यह मुमकिन नहीं हो सका और विवेचना जबलपुर के निर्देशक अरुण पाण्डेय के पास इसकी स्क्रिप्ट पहुँच गयी। उन्होंने प्रदेश में मुख्य शहरों में मंचन किया, जिसमें भोपाल भी शामिल था। नाटक को सभी जगह कामयाबी हासिल हुई जिससे यह बात साबित हुई कि भोपाली जबान को सब पसन्द करते हैं और यह अपनी अलग पहचान भी रखती है। फिल्म शोले के किरदार सुरमा भोपाली को भी इसका श्रेय दिया जा सकता है।

दरअसल

नाटक के बाद नाटक होना नाटक का ही एक हिस्सा होता है और हर नाटक के बाद अच्छे-बुरे जुमले सुनने की आदत भी हर रंगकर्मी को होती है। मगर नाटक लिखने वाला अक्सर इस इज्जत आफजाई से बच जाता है क्योंकि मंचन के दौरान उसका मौजूद रहना जरूरी नहीं रहता। मेरे साथ ऐसा नहीं हो

सका। मुझे भोपाल और ग्वालियर के शो में मौजूद रहना पड़ा। इसी दौरान नाटककार दिनेश राय ने मुझे मशविरा दिया कि मुझे भोपाली जुबान पर नाटक लिखना चाहिये और उसके लिये ऊर्दू के मशहूर व्यंग्यकार तखल्लुस भोपाली की लिखी किताबें पढ़ना चाहिये।

यह एक संयोग था कि दैनिक भास्कर की रविवारीय पत्रिका 'रसरंग' के सम्पादक राजकुमार केसवानी जी ने भी मुझे तखल्लुस भोपाली की किताबों के अंशों को अनुवाद करने को कहा था मगर यह किताबें कहीं मौजूद नहीं थीं। जहाँ चाह होती है, वहाँ राह निकल आती है। इकबाल लायब्रेरी की मदद से सब किताबें हासिल हो गई, जिसमें पानदान वाली खाला के तीनों हिस्से, गफूर मियाँ, पोस्टमार्टम और शैतान जाग गया शामिल थीं। मैंने गफूर मियाँ के कुछ अंशों का हिन्दी अनुवाद किया परन्तु तखल्लुस भोपाली के परिवार की मन्जूरी न मिलने से छप नहीं पाया।

तखल्लुस भोपाली के लेखकों और किरदारों की जुबान लाजबाव है मगर उनमें कोई प्लाट न होने की वजह से नाटक में तब्दील करना मुश्किल था। सिर्फ गफूर मियाँ ऐसा किरदार है जिसे नाटक बनाया जा सकता है मगर उसकी कहानी भी टुकड़ों में बिखरी थी, जिसकी वजह यह थी कि तखल्लुस भोपाली अपना 'भोपाल पंच' अखबार निकालते थे। उसमें लिखे जाने वाले कॉलम के किरदारों का नाम ''पानदान वाली खाला'' और ''गफूर मियाँ'' था, इन किरदारों के जरिये वे उस दौर के समाजी और सियासी हालात पर व्यंग्य करते थे जो बहुत पसन्द किये जाते थे। 1952 में पहली बार उन्होंने अपने कॉलमों को संकलित करके 'पानदान वाली खाला' के नाम से किताब प्रकाशित की, जो हाथों-हाथ बिक गयी। इस कामयाबी के बाद उन्होंने पानदान वाली खाला के दो भाग 1963 व 1966 में प्रकाशित किए और 1964 में गफूर मियाँ भी किताब की शक्ल में आ गये। ये सभी किताबें आज भी आसानी से नहीं मिलती हैं मगर मेरी खुशकिस्मती है कि ये नायाब किताबें मुझे हासिल हो गयीं।

तखल्लुस भोपाली की खाला एक ऐसी बूढ़ी औरत है, जो मोहल्ले के हर घर में जा सकती है और औरतों के बीच बैठकर अपने अन्दाज से उस वक्त के सियासी, समाजी हालत पर बातें करती है। पंडित नेहरू और काँग्रेस की तारीफ करती है मगर काटजु की दुश्मन है जो उस समय के मुख्यमंत्री थे। खाला का बातों का अंदाज इतना दिलचस्प है कि पढ़ने वाला उस दौर को अपनी आँखों के सामने आज भी देख सकता है, लेकिन कोई कहानी, प्लाट न होने की वजह से नाटक बनना मुश्किल है क्योंकि नाटक के किरदार के लिये जिन्दगी के हर रंग का होना जरूरी है जो पानदान वाली खाला में नहीं है मगर एक खूबसूरत फीचर जरूर बन सकता है। उर्दू साहित्य के हास्य व्यंग्य किरदारों मे उपर अयार (दास्तानगोई) जाहिर दार बेग (डिप्टी नसीर बेग) खोजी (रतननाथ सरसार) हाजी बकलग (मुंशी अली ताज) मिर्जा साहिब (पितरस बुखारी) बी जमालो (कन्हैयालाल कपूर) काजी जी व मुन्शी जी (शौकत थानवी) की तरह पानदान वाली खाला और गफूर मियाँ ने भी तखल्लुस भोपाली का उर्दू साहित्य में अलग मुकाम बना लिया है। तखल्लुस भोपाली के इन किरदारों के पैदा होने की कहानी भी बहुत दिलचस्प है, डॉक्टर ने तखल्लुस साहब को दवा के बतौर चने की रोटी खाने का मशविरा दिया। एक दिन उन्हें चने की रोटी नहीं मिली। बहुत नाराज हुए जिसे तखल्लुस साहब कुछ यूँ लिखा था- ''मैंने बुआ (नौकरानी) को आवाज देकर उनसे इसका सबब पूछा तो उन्होंने मेरी तरफ देखा, फिर नजरें झुका धीरे से बोली- ''मियाँ मेरा क्या है, मैं तो रोज पका कर दे दूँ, रोज-रोज चने की रोटी खाओगे तो चार शरीफ लोगों में बैठने लायक नहीं रहोगे, ''बुआ के इस जबाब पर सब हँस पड़े, मेरा गुस्सा भी दफा हो गया और मुझे ख्याल आया कि अगर बुआ से बातचीत की जाए तो जिन्दगी के मामलात और मसाईल के सिलसिले में उनके ख्यालात का भी अन्दाजा होगा और उनकी जुबान से भी वाकिफ हो जाऊँगा, इस ख्याल के तहत मैंने खाली वक्त में बुआ से बातचीत करना शुरू कर दिया और चन्द ही दिनों में मुझे अन्दाजा हुआ कि हमारी हकीकी जिन्दगी पर इनके खयालात बड़े दिलचस्प होते हैं मैंने कुछ और बुआएं और मुलाजिमा रखी, धीरे-धीरे उनकी जुबान पूरी तरह समझने लगा और फिर खाला की जुबान से उनकी जुबान बोलने लगा''।

ऐसी बातें हर किरदार के पैदा होने से जुड़ी मिलती हैं क्योंकि किरदार हमारे आसपास ही रहता है। मेरे नाटक 'खाला कमाल की' का किरदार सिर्फ नाम की वजह से ही पानदान वाली खाला से मिलता जुलता नजर आता है मगर प्रभावित नहीं है। अगर मैं कोशिश भी करता तो वो जुबान नहीं लिख सकता था जो तखल्लुस भोपाली के किरदारों की है और न ही हमारे कलाकार उस अन्दाज में बोल सकते हैं क्योंकि वो किरदार इतनी बुलन्दी पर आ पहुंचे हैं कि उन्हें छूना मुमकिन नहीं है। फिर हालात और रहन-सहन में भी बहुत बदलाव आ चुका है इसलिये मैंने आज के दौर की खाला का किरदार रचा और जबान भी अपनों से ही लुटे-पिटे हिन्दुस्तान की तरह हिन्दुस्तानी हो गयी है और यह जुबान आज के रंगमंच पर बोली जा रही है। पृथ्वी थियेटर में मंचित नाटकों में हिन्दी-उर्दू नहीं बल्कि हिन्दुस्तानी बोली जा रही है।

'खाला कमाल की' के अगले दो मंचन मुम्बई और दिल्ली में हैं जो नाटक की अग्नि परीक्षा होगी। ....देखें भोपाल की यह खाला क्या कमाल दिखाती है!

मैं बचपन में गाँव की बुजुर्ग औरतों से कहानियाँ सुनता, वे सब किस्सा-गो थीं। गर्मियों के उन दिनों में, लू में खिड़कियाँ फुफकारती रहतीं, कहीं खपरैली में बैठे महोखा पक्षी धीर गम्भीर आवाजें निकालते। उन कहानियों में ये ध्वनियाँ भी आ जुड़तीं....। उन कहानियों में नाग-नागिन, उलूक, सारंग - सुगना, अनाज नापने वाले पइला, पइली, कठौती (काठ के बर्तन) जैसी चीज़ें भी नाराज होतीं, मुस्कुरातीं, लजातीं.... मिट्टी के चकरों की घुरुर-घुरुर घूमती आवाजें... तीखी धूप में चटकती मसूर की फलियों की नन्हीं ध्वनियाँ तमाम तरह की दुनियाँ एक मुकम्मल कम्पोजीशन अख्तियार कर लेतीं।

संदर्भ

बघेली लोक नाट्य

हीरेन्द्र सिंह

अमूर्त की संवाहक कला

साँप का पूरा शरीर ही भूमि के माध्यम से ध्वनि तरंगों को ग्रहण करने की क्षमता रखता है। मानव का अपना चेतना जगत है, लोक की परम्परा और सांस्कृतिक विरासत अपने भूगोल के परिदृश्य को, अपनी माटी की नमी को ही सम्प्रेषित करती है, खनिज रंगों की आभा कब किस प्रस्तुति में दिख जाये, कहा नहीं जा सकता है। जो अदृश्य है वह दृश्यगत कला रूपों में खुशबू की तरह महकता है, जिसे हम हाथों से भले न पकड़ सके, पर आत्मा से, रूह से महसूस कर सकते हैं। किसी शायर ने कहा है- ''रूह से जिस्म का रिश्ता अजीब होता है, ज़िन्दगी भर साथ रहे और तार्रूफ न हुआ''.... तार्रूफ (परिचय) की चाहत इन्सानी ही नहीं कुदरत के प्राणियों से लेकर वनस्पतियों तक की फितरत में शामिल हैं।

पहचान के लिये अमूर्त निजता की सम्प्रेषणीयता के लिये, जब भी प्रयास होंगे तो नदी का रुख समंदर की ओर होगा। मैंने उन दिनों बघेल खण्ड के रीति-रिवाज़ों को, सांस्कृतिक विरासत को जानने का प्रयत्न नहीं किया था, वहाँ के रहवासियों की तरह वह खुद-ब-खुद मेरे और परिवेश के बीच जीवंत हो उठा था। मुझे कोई नाट्य रूप नहीं पता थे, कुछ ग्लिमसेज़, कुछ कौंधती आवाजें, मेरे अन्धेरे कागज पर छोटे-छोटे हस्ताक्षर जड़ रही थीं। मैं बचपन में गाँव की बुजुर्ग औरतों से कहानियाँ सुनता, वे सब किस्सा गो थीं। गर्मियों के उन दिनों में, लू में खिड़कियाँ फुफकारती रहतीं, कहीं खपरैली में बैठे महोखा पक्षी धीर गम्भीर आवाज़ें निकालते उन कहानियों में ये ध्वनियाँ भी आ जुड़तीं.... उन कहानियों में, नाग-नागिन, उलूक, सारंग - सुगना, अनाज नापने वाले पइला, पइली, कठौती (काठ के बर्तन) जैसी चीजें भी नाराज़ होतीं, मुस्कुरातीं, लजातीं.... मिट्टी के चकरों की घुरुर-घुरुर घूमती आवाजें... तीखी धूप में चटकती मसूर की फलियों की नन्हीं ध्वनियाँ, तमाम तरह की दुनियाँ एक मुकम्मल कम्पोजीशन अख्तियार कर लेतीं। कभी-कभी रात अलाव के इर्द-गिर्द हम बुजुर्गों से प्रेत गाथाएँ सुनते, स्थान और समय के अनुसार हर व्यक्ति

सरोकार

के अनुभव और संस्कारों के अनुरूप उनके मन मस्तिष्क में वे आकार लेतीं। ....यही बातें जब दूसरों से कही जातीं, तो वही विवरण सुव्यवस्थित तरीके से प्रकट होने की चाहत में भाव और भंगिमा ग्रहण करने लगता। यहाँ दिन से रात, स्याह से सफेद में कोई सीधी छलाँग न होकर यह बात, हरकत, एक सुनियोजित लय में निबद्ध जान पड़ती। नाटक में कई कलाओं का समावेश होता है। नृत्य, संगीत, काव्य और सन्नाटा भी। मंच पर बोलते-बोलते अचानक चुप हो जाने पर सन्नाटा सारगर्भित हो सकता है। कोरियाई काव्य शैली ''हायकू'' इसका एक ठोस, प्रमाणिक दस्तावेज है। प्रो. ए.पी. सिंह का एक बघेली हायकू है ''महुआ डोंगा, चिहुँटी लीन्हें जाँय, बहू के डोला'' ....पाँच, सात, पाँच शब्दों की सीमा में निबद्ध यह कविता जितनी दीख पड़ती है, उससे ज्यादा कहती है। ''महुए का फूल बहू का एक डोला है, जिन्हें चींटियाँ लेकर जा रही हैं, चींटियों की कतारें न कहने के बावजूद उनका भान होता है और महुए की मादकता दुल्हन से जुड़ कर नए आयाम से देखने को प्रेरित करती है। हायकू काव्य के अध्येता कहते हैं कि एक कविता के पढ़ने के बाद दूसरी कविता पढ़ने के मध्य अन्तराल की आवश्यकता होती है। क्योंकि एक अच्छे हायकू में प्रकृति की अनुगूँज के साथ-साथ कई दृश्य आकार ग्रहण करते हैं।

बघेलखण्ड मध्यप्रदेश के रीवाँ, सीधी, सतना, शहडोल, सिंगरौली, उमरिया एवं अनूपपुर ज़िलों तक फैला है। इतिहासकार डॉ. अजय सिंह के अनुसार इस भू भाग को अठारहवीं शताब्दी से बघेलखण्ड कहा जाने लगा। पेशवा बाजीराव (प्रथम) ने अपने अनुज चिमन जी अप्पा को लिखे पत्र (27 दिसंबर 1728 ई.) में प्रथम बार बघेलखण्ड का उल्लेख किया था। यहाँ स्थानीय लोगों के द्वारा, लगभग अस्सी लाख की जनसंख्या के बीच बोली समझी जाने वाली बघेली बोली तेजी से अपना मूल स्वरूप तज रही है। बघेलखण्ड के जिन लोक

संवाद : हीरेन्द्र सिंह

सम्भावनाओं से भरा है बघेली रंगमंच

हीरेन्द्र सिंह बहुमुखी कलाकार हैं। उनकी कलादृष्टि किसी एक आयाम पर केन्द्रित नहीं है। कभी वे अभिनेता के रूप में नज़र आते हैं, तो कभी चित्रकार के रूप में, कभी प्रकाश संयोजन करते दिखाई देते हैं, कभी उम्दा फोटोग्राफरों में शुमार हो जाते हैं, कभी संगीत की दुनिया में नमूदार होते हैं तो कभी एक यायावर कवि बन जाते हैं। बघेली संस्कृति और कलाओं के सिमटते जाने को लेकर वे जरूरी चिंता करते हैं।

● मेरी दिलचस्पी किसी एक कलारूप में नहीं रही। पेन्टिंग, फोटोग्राफी, कविता, प्रकाश संयोजन, संगीत, अभिनय, यायावरी की लत के चलते में संभवतः इस विधा से जुड़ा नाटक कई कलारूपों को अपने में संजोए हुए हैं।

● नाटक ही नहीं हर विधा में संयत, समझदार लेखक, पेन्टर, संगीतकार, कलाधर्मी हैं जो समाज को आईना दिखाते हैं और रूखेपन को ध्वस्त करते हैं, नए आयाम और दृष्टि देते हैं, मेरा मानना है कि इससे फर्क पड़ता है। आज अनेक शासकीय प्रतिष्ठान हैं, नए नाट्य विद्यालय खोले जा रहे हैं। ठीक उसी तरह जैसे शहर की तंग गलियों में मंदिर, मस्जिद नुमा दुकानें जो यात्राएँ बाधित करती हैं। पुराने विशाल मंदिरों में कोई दिया जलाने वाला नहीं... और आर्टिस्ट, ऑल आफ देम सफर्ड। जहां बघेलखण्ड की बात है, तीस वर्षों से सांस्कृतिक विरासत के लिए कार्य कर रहे सृजनधर्मियों के लिए न तो थियेटर स्पेस है न आर्थिक अनुदान। सतही लोग संस्कृति की अपनी उथली व्याख्याएं रच रहे हैं। प्रतिष्ठानों में जुगाड़ से बैठा व्यक्ति खुद को हर विधा में पारंगत मानता है और निधि सेवकों को विधि सम्मत तरीके से प्रोत्साहित करता है।

● हम जानते हैं कि भाषा की अपेक्षा बोलियों के स्वरूप में तेजी से बदलाव होते हैं, जब कोई समाज अपनी विरासत, परंपरा और उत्सवधर्मिता की अवहेलना करता है, अपनी प्रकृति, अपनी स्वभाविकता तज देता है, जब वह सिंथेटिक कल्चर की गिरफ्त में चला जाता है, तब वह अपनी नमी खो देता है। हमारी रामलीलाएं, कृष्ण लीलाएं, लोकनाट्य यदि बुझ रहे हैं तो यह हमारा ही दोष है। कालेज के दिनों में जो नाटक खेले जाते थे उनमें विदूषक या कभी-कभी रामू नौकर का पार्ट करने वाला अभिनेता उपहास स्वरूप बघेली बोलता था। मुझे अक्सर लगता, यह अपनी बोली है, इसे स्वाभिमान के साथ प्रस्तुत किया जाना चाहिये। इस तरह बघेली बोली का प्रथम पूर्णकालिक नाटक 'कउन भूमि ते भारी' लिखा और प्रस्तुत किया गया। 'मइना तोर तरइना रे' के बाद प्रयास बसंत लोक उत्सव समिति पहड़िया द्वारा ग्राम पहड़िया के रहवासियों के सहयोग से 14 मार्च को बघेली नाटक 'सुन रे सुपिया सुन' का मंचन किया गया। हम यकीनन आशान्वित हैं कि हमारा संवाद 'आपन बोली बानी राखी, सब के खातिर पानी राखी,' बोली बानी और स्वाभिमान का संवाहक बनेगा।

नाट्यों का उल्लेख होता रहा है वे लुप्त प्राय हैं। लकड़बघ्घा लोक नाट्य गाँव के बच्चे को वन में लकड़बघ्घे द्वारा पाले जाने की कथा है, जिसे मुक्ताकाशी परिवेश में प्रस्तुत किया जाता था। मनसुखा कृष्णलीला से समबद्ध मंच में प्रस्तुत होने वाला धार्मिक लोक नाट्य था। नकटा अथवा जिंदवा लोक नाट्य शादी, ब्याह के अवसर में मंडप में अब भी स्त्रियों द्वारा खेला जाता है। इसमें आंशिक अश्लीलता के चलते पुरुषों एवं बच्चों का प्रवेश वर्जित रहता है।

मैंने बघेली बोली का पहला नाटक ''कउन भूमि ते भारी'' लिख कर उसे मंचित करने के जतन किये। इस नाटक की भाव भूमि हिन्दुस्तानी लोककला, बघेलखण्ड के इतिहास में घटी कुछ सच्ची घटनाओं के साथ ही मेरे बचपन की स्मृतियों से बावस्ता थीं... बचपन के गुमशुदा खेल 'सोनगाँठ', निप्पी गेंद, ... डोला (पालकी) .... वही पालकी, जिसमें बैठ कर दुलहिन गाँव आती है, डोला जो सेमल की हलकी लकड़ी से बनता है, सेमल वही जिसके फूल गर्मियों में अंगारों से दहकते रहते हैं, वे हजारों सुए की मानिंद फलों में तब्दील होकर फूट पड़ते हैं और चन्दा के सपनों की मानिंद तिरते रहते हैं... ये नाटक में घटित होने वाले संवाद और दर्शकों के स्मृति दृश्य हैं जो मौहूमियत के दायरे में थे, दर्शक जो मंच पर पुराने समय को आज के आलोक में पाकर प्रसन्न और द्रवित हो रहे थे, यह अमूर्तन ही था, जो संवेदनाओं का हरकास बन बैठा था।

कहा जाता है कि भाषा हीन समय में आखेटक, आखेट से लौट कर वहाँ का वृत्तांत अंग संचालन, भाव भंगिमा, तरह तरह की शक्लें बना कर प्रस्तुत करने का जतन करते, देखने वाले, प्रस्तुत करने वालों के चेहरों में उस पूर्व में घटित अदृश्य को कुछ हद तक मूर्त होते देखते। ऐसे अनेक उदाहरण हमें यहाँ की नदी, घाटियों पर्वत श्रृंखलाओं में प्रगैतिहासिक काल की चित्रकलाओं में मिलते हैं।

जगत मिथ्या की अवधारणा के बावजूद भारतीय जनसमुदाय लीलाओं में विश्वास रखता है, बघेली लोक नाट्यों के साथ ही यहाँ होने वाली लीलाओं का संदर्भ स्वाभाविक है। वाल्मीकी रामायण संभवतः जनसाधारण की सहज ज्ञान के अनुकूल नहीं थी, तुलसी कृत रामचरित मानस के सरली कृत रूप को व्यापक फलक मिला। वे अदृश्य बिम्ब दैहिक, आंगिक होते हुए मंचित होकर बेहद लोकप्रिय हुए। परंपरा भी अमूर्तन है, वह उछल कर सीधे हमारे पास नहीं आती, वह जनमानस में कब रच बस जाती है उस क्षण, दिवस, काल को हम इंगित नहीं कर सकते। वह प्रकृति, भौगोलिक परिदृश्य और परिवेश की नमी से रूपाईत, व्याख्यायित होती है। कृष्णलीला के साथ ही रामलीला के मंचन यहाँ परंपरागत रूप से होते रहे हैं। रामलीला में विछोह, मलिन, क्रोध, द्वेष के अनेक प्रसंग हैं। भरत मिलाप हो या राम जानकी के वन गमन का दृश्य, दर्शक इसे भली-भाँति जानते हैं। परन्तु वे कौतुक से नहीं, भावना से अभीभूत और द्रवित होते हैं। बार-बार देखे जाने के बाद भी उन्हें यह दोहराव नहीं खलता, क्योंकि मंच पर घटित होने वाले दृश्य राम के प्रति अदृश्य, अमूर्त आस्था की भावना से उपजा, उमगा मूर्त होता स्वरूप है। आदि काल से संवेदन शील मनुष्यों ने वायु, जल, अग्नि, सूर्य की उपासनाएँ की। मानव का स्वभाव है कि वह अनंत को बाँधना चाहता है, पूरी तरह से सफल न हो सकने के बावजूद वह अपनी परिधि में मंजर रचता है और अपने समय को जिंदा होते देखना चाहता है।

प्रत्येक मनुष्य की योग्यताएँ और दक्षताएँ अलग-अलग हैं। कलाएँ अमूर्तन से उपज कर मूर्त होती हैं और मूर्त कलाएँ अमूर्त में संभावनाएँ तलाशती हैं। मौन को कौन कहे? ....परम्पराओं को कौन कहे? ...परम्पराओं के अनेक रूप-रंग भावनाओं, संवेदनाओं पर आश्रित होते हैं। वे विस्मृत न हो जाएँ सो प्रकृति में यह आग्रह विद्यमान रहता ही है कि वे दृष्टिगत होने के जतन को जारी रखें। और यह सही है कि कोई सृजनधर्मी अपनी प्रस्तुति में उस मौन को ही सम्प्रेषित करता है, जिन्हें सब आकार में देखना चाहते हैं। वहीं जब हर्ष, विषाद, करुणा रूपाईत होती है तो सुनने के साथ देखने का योग एक ठोस स्मृति में तब्दील होता जान पड़ता है।

यह जानते हुए कि अमूर्तन स्वतंत्र है, हम निर्मल वर्मा के इस कथन से सहमत हो सकते हैं कि कला का रहस्य उसकी स्वतंत्रता में ही छुपा होता है, और इसकी अभिव्यक्ति रूप में और यही वह अकेली संभावना है जो कलाकार को अपनी स्वतंत्रता के लिये प्रतिबद्ध बनाती है।

'वनमाली कथा सम्मान समारोह-2011'

सृजन के आसपास

भारत भवन (भोपाल) में आयोजित गरिमामय समारोह में वनमाली कथा सम्मान 2011 से अलंकृत होते हुए हिन्दी की प्रख्यात कथा लेखिका मैत्रेयी पुष्पा और युवा कहानीकार मनोज रूपड़ा। इस अवसर पर वरिष्ठ कवि भगवत रावत, आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह, वनमाली सृजन पीठ के अध्यक्ष और कवि-कथाकार संतोष चौबे और कहानीकार मुकेश वर्मा।

वनमाली

वैचारिक आहटों का प्रतीक बना

साहित्य प्रसंग

साहित्य और संस्कृति के क्षेत्र में रचनात्मक चेतना के प्रसार, प्रतिष्ठा और सम्मान के लिए समान रूप से सक्रिय भोपाल की वनमाली सृजन पीठ का बहुप्रतिष्ठित आयोजन वनमाली कथा सम्मान समारोह 4,5 और 6 मार्च को अपनी व्यापक गतिविधियों के साथ भारत भवन में संपन्न हुआ। चालीस से साठ के दशक में हिन्दी के रचना पटल पर कथाकार और निबंधकार के रूप में उभरे श्री जगन्नाथ प्रसाद चौबे 'वनमाली' ने एक कर्मठ और नवोन्मेषी शिक्षक के बतौर सुशिष्यों की पीढ़ी का निर्माण भी किया था। यह 'स्मृति प्रसंग' उनके व्यक्तित्व और कृतित्व के प्रति श्रद्धास्पद प्रणति का प्रतीक तो बना ही, हमारे अपने समय की सृजनशील संवेदनाओं तथा वैचारिक उद्वेलन को लक्ष्य करने का अवसर भी साबित हुआ। इस विराट साहित्यिक कुंभ में मैत्रेयी पुष्पा को उनके समग्र औपन्यासिक लेखन के लिए और मनोज रूपड़ा को नई कहानी परंपरा में उनकी उत्साही सृजनशील उपलब्धियों के लिए वनमाली सम्मान से विभूषित किया गया। इसी तारतम्य में नई सदी के उपन्यास पर गंभीर विमर्श हुआ। वनमाली की कहानियों को उनके मंचन के जरिए साहित्य प्रेमियों ने नई भाव भूमि के साथ अनुभव किया और 'कविता यात्रा' की प्रस्तुति में कविता और कला की जुगलबंदी में हिंदी के प्रखर कवियों की कालजयी रचनाओं का नया अर्थ खोलती रही। समारोह की एक सुबह वनमाली की यादों का झरोखा खुला जहाँ उनके सहकर्मी शिक्षक, शिष्य और परिजन गुजिश्ता वक्त के साथ सँजोयी जीवन की बेशकीमती सीखें साझा करते हुए कई बार भावुक हुए। सृजन पीठ द्वारा प्रकाशित पुस्तकें और पत्रिका 'रंग संवाद' के नए अंक की सौगातों के साथ यह समारोह शरीक हुए साहित्य प्रेमियों के लिए स्थाई स्मृति बन गया। भोपाल की साहित्यिक-सांस्कृतिक संस्थाओं तथा सृजनधर्मी समाज की खुली सहभागिता ने आयोजन को समावेशी आत्मीयता प्रदान की।

• मैत्रेयी पुष्पा और मनोज रूपड़ा सम्मानित
• उपन्यास पर विमर्श • कृतियों का लोकार्पण
• कहानी और कविता का मंचन

कर्मयोगी शिक्षाविद थे वनमाली

समारोह की शुरूआत वनमाली जी के सृजनात्मक पुरूषार्थ के भावभीने स्मरण से हुई। कार्यक्रम के मुख्य अतिथि व वनमालीजी के खंडवा प्रवास के समकालीन शिक्षक वयोवृद्ध गोपाल अवधूत आष्टेकर ने कहा कि प्राचार्य रहते हुए उन्होंने शिक्षकों को बड़े ही सलीके से अध्यापन कार्य सिखाया इसलिए वे हमारे जीवन में सद्गुरू का स्थान रखते हैं। वे हमेशा कहते थे कि एक शिक्षक तभी सफल हो सकता है जब उसके विद्यार्थियों का ज्ञान उसके बराबर हो जाए। अध्यक्षता कर रहे आलोचक-कवि रमेश दवे ने कहा कि आमतौर पर शिक्षकों से पूछा जाए कि वे किसे पढ़ाते हैं, तो वे बच्चों को पढ़ाने की बात कहते हैं। लेकिन सच्चाई ये है कि शिक्षक पाठ्य पुस्तकों व पाठें को पढ़ाते हैं। वनमालीजी बच्चों को पढ़ाते थे। आज इस समारोह में उपस्थित उनके शिष्यों की सफलता को देखकर समझ में आ रहा है कि स्मृति-पुरूषों की स्मृति क्या होती है। शिक्षक गौरीशंकर गौर ने वनमालीजी को प्रयोगधर्मी शिक्षाविद निरूपित किया।

वनमाली जी के पुत्र हिन्दी के सुपरिचित कथाकार-कवि संतोष चौबे ने अपने पिता के सृजनशील व्यक्तित्व और उनके अनथक पुरूषार्थ को याद करते हुए वनमाली सृजन पीठ की स्थापना और उसकी प्रवृत्तियां खुलासा की। उन्होंने कहा कि वनमाली के बहाने दरअसल मैं स्वयं अपनी तलाश का यह सफर जारी रखना चाहता हूं। चौबे परिवार के साहित्यिक प्रतिनिधि लोकप्रिय कवि प्रदीप चौबे ने वनमालीजी के संस्मरण सुनाते हुए अपने पूर्वज के जीवन मूल्यों को याद किया। वनमालीजी के शिष्यों डॉ. शिशिर मुखर्जी, डॉ जमियत राय बजाज, डॉ. मुनीष मिश्रा, रमेश शुक्रे, राजेन्द जैन, डॉ. विजय पगारे, गुरू प्रसाद तिवारी , शरद जैन, अशोक देशपाण्डे आदि ने अपने गुरू की भावभीनी याद करते हुए कहा कि वनमालीजी विद्यार्थियों के सर्वांगीण विकास के साथ शिक्षा पर ध्यान देते थे। वे अनुशासन को जीवन का मूल मंत्र बताते थे।

इस अवसर पर संतोष चौबे और विनय उपाध्याय द्वारा सम्पादित वनमालीजी पर एकाग्र संस्मरणों की पुस्तक और उनकी प्रेरक स्मृति को लेकर भोपाल की साहित्यिक मासिक पत्रिका 'राग भोपाली' के विशेषांक का लोकार्पण हुआ। उद्घाटन सत्र के अंत में कार्यक्रम के मुख्य अतिथि श्री आष्टेकर ने वनमाली स्मृति पुस्तकालय का शुभारंभ किया। स्कोप इंजीनियरिंग कॉलेज कैम्पस में आयोजित इस स्मृति प्रसंग का संचालन सृजन पीठ के संयोजक विनय उपाध्याय ने किया व आभार संतोष चौबे ने माना।

स्कोप इंजीनियरिंग कॉलेज परिसर (भोपाल) में वनमाली पुस्तकालय का शुभारंभ करते हुए वनमालीजी के सहकर्मी शिक्षक गोपाल राव आष्टेकर (खंडवा)

स्वागत भाषण : वनमालीजी के सुपुत्र कवि-कथाकार संतोष चौबे

अध्यक्षीय उद्बोधन : शिक्षा शास्त्री-साहित्यकार रमेश दवे

लोकार्पण : वनमाली के संस्मरणों पर एकाग्र ग्रंथ

मंचन : वनमाली के जीवन और सृजन पर केन्द्रित नाट्य प्रस्तुति, कर्मयोगी : निर्देशन-संजय मेहता

सम्मान प्रसंग में उद्‌बोधित करते हुए वरिष्ठ कवि भगवत रावत।

समारोह के मंच पर वनमाली अलंकरण से विभूषित मैत्रेयी पुष्पा और मनोज रूपड़ा।

रंगभूमि पर प्रकट हुए वनमाली

समारोह की पहली शाम वनमाली के जीवन, व्यक्तित्व और कृतित्व को रंगभूमि पर देखने का एक अनूठा अवसर आया। 'रंग शीर्ष' के कलाकारों ने 'जिल्दसाज़', 'ट्रेन का डिब्बा', 'आदमी और कुत्ता' कहानियों को मंचन के लिए चुना। रंगकर्मी संजय मेहता के निर्देशन में रचे इस प्रयोग को दर्शकों की अपार सराहना मिली। प्रसिद्ध व्यंग्यकार डा. ज्ञान चतुर्वेदी ने वनमाली की रचनाओं में निहित नाटकीय तत्वों की व्याख्या की। उन्होंने अपने वक्तव्य में कहा- वनमालीजी, परसाई से भी पूर्व के व्यंग्यकार हैं। उन्होंने वनमाली की रचनाओं में मौजूद इंटेंसिटी को भी कोड किया। अध्यक्षता कर रहे पद्मश्री मंजूर एहतेशाम ने भी वनमालीजी के व्यक्तित्व को उनकी कथाओं के समान बताया। स्वागत वक्तव्य में वनमालीजी के सुपुत्र, कवि-कथाकार संतोष चौबे ने सृजनपीठ की गतिविधियों में विशेष रूप से साहित्य व कलाओं की आपसदारी की चर्चा की। संचालन विनय उपाध्याय ने किया। संतोष चौबे द्वारा संपादित वनमालीजी की कहानियों पर केन्दित 'वनमाली समग्र' का लोकार्पण मंचस्थ अतिथियों ने किया।

संजय मेहता ने वनमालीजी के पुत्र संतोष चौबे व उनके शिष्य अजातशत्रु की लिपिबद्ध पुरानी यादों को भी मंचन के कथानक में शामिल किया। नाटक के मंचन के बाद प्रसिद्ध उपन्यासकार मैत्रेयी पुष्पा ने कलाकारों का गुलदस्ता भेंटकर अभिनंदन किया। इस नाट्य प्रसंग में वनमाली सृजनपीठ के संवाद पत्र 'रंग संवाद' का लोकार्पण डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी तथा मंजूर एहतेशाम ने किया।

मैत्रेयी और मनोज सम्मानित

समारोह की दूसरी शाम भारत भवन का परिसर सृजन और सम्मान की गरिमा से सराबोर था। हिन्दी की जानी-मानी उपन्यासकार-कथाकार मैत्रेयी पुष्पा और युवा कहानीकार मनोज रूपड़ा को हिन्दी के ज्येष्ठ कवि साहित्यकार भगवत रावत ने 'वनमाली कथा सम्मान' से अलंकृत किया। वनमाली सृजनपीठ द्वारा स्थापित इस सम्मान में मैत्रेयी को ५१ हजार रूपये तथा मनोज रूपड़ा को ३१ हजार रूपये की राशि के साथ ही शॉल, प्रशस्ति और प्रतीक-चिन्ह भेंट किए गए। इस अवसर पर आलोचक शंभुनाथ सिंह मुख्य अतिथि और हिन्दी के लोकप्रिय कवि राजेश जोशी बतौर अध्यक्ष उपस्थित थे। मनोज रूपड़ा के रचनाकर्म पर टिप्पणी करते हुए समीक्षक-कथाकार मुकेश वर्मा ने कहा कि यह उदारवाद व बाजारवाद का दौर है। इससे जो सामाजिक संरचना निर्मित हुई है, उसे अपनी रचना के केन्द में रखते हुए श्री रूपड़ा ने शिल्पशैली और कहन के कलात्मक प्रयोगों द्वारा भाषा को विशेष प्रतिष्ठा दी है।

लोकार्पण : वनमाली सृजन पीठ की संवाद पत्रिका 'रंग संवाद' के नवीन अंक का लोकार्पण करते हुये उपन्यासकार पद्मश्री मंज़ूर एहतेशाम, व्यंग्यकार डॉ. ज्ञान चतुर्वेदी, कवि महेन्द्र गगन और पत्रिका के प्रधान संपादक संतोष चौबे तथा संपादक विनय उपाध्याय

नई सदी में उपन्यास : विमर्श करते हुए कथाकार प्रभु जोशी

सुरेश पंडित

अरुणेश नीरन

महेश कटारे

शंभु गुप्त

रेखा कस्तवार

रामप्रकाश

मैत्रेयी पुष्पा के रचनाकर्म पर अपनी राय जाहिर करते हुए आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह ने कहा कि मैत्रेयी आधुनिक हिन्दी कथा साहित्य की तस्लीमा नसरीन हैं। वो हमारे समय की प्रचंड बौद्धिक उपस्थिति हैं, जिनके उपन्यास और कहानियाँ परंपरागत सामाजिकता के छद्म आदर्शों को कटघरे में खड़ा करते हैं। वे समझौताविहीन लेखिका हैं और पुरूष वर्चस्वी सामाजिक विधानों व मूल्यों के बीच सदियों से पिसती और दंडित होती आ रही है। स्त्री के जीवन के उन बुनियादी प्रश्नों को वे उठाती हैं, जो आज तक बहुत असुविधाजनक माने जा रहे हैं। मैत्रेयी इस अर्थ में भी हमारे लिए महत्वपूर्ण है कि प्रेमचंद ने जिन ग्राम कथाओं को लिखा था उनमें किसान पुरूषों को ही नायकत्व प्रदान किया गया था। मैत्रेयी के यहाँ किसान बहु उनकी जगह ले चुकी हैं और इस बहाने हिन्दी उपन्यास अपनी परिपूर्णता की दिशा में बढ़ता दिखाई दे रहा है। भगवत रावत ने मैत्रेयी के साथ व्यतीत शालेय जीवन की यादें साझा करते हुए उनकी लेखकीय प्रतिभा के आयामों पर प्रकाश डाला। रावत ने मनोज रूपड़ा की कहानियों में आए नए विषयों और शिल्प को भी रेखांकित किया। सृजन पीठ के अध्यक्ष संतोष चौबे ने वनमाली सम्मान की भूमिका और चयन प्रक्रिया से अवगत कराया। प्रशस्ति वाचन विनय उपाध्याय और रेखा कस्तवार ने किया।

सम्मान से विभूषित उपन्यासकार मैत्रेयी ने इस सम्मान को स्वयं के लिए नहीं बल्कि सारी स्त्री बिरादरी के लिए सम्मान माना, जो अपने अपमानों के विरूद्ध लड़ाई में उतरी हैं। उधर सम्मान के प्रति कृतज्ञ भाव से मनोज रूपड़ा ने कहा कि इस सम्मान को मैं अपने जीवन की एक बड़ी उपलब्धि मान रहा हूं। उन्होंने खुलासा किया कि म.प्र. और भोपाल से मेरा बहुत नजदीकी रिश्ता है। इस दौरान पिछले वनमाली समारोह में हुए कथा विमर्श पर केन्दित पुस्तक 'आख्यान का आंतरिक संकट' का विमोचन भी हुआ जिसका संपादन संतोष चौबे ने किया है।

उपन्यास पर हुआ विमर्श

तीन दिवसीय वनमाली कथा सम्मान समारोह के आखिरी दिन सुबह का सत्र उपन्यास की मीमांसा को सहेजता रहा। दो सत्रों में आयोजित विमर्श 'नई सदी में उपन्यास' पर एकाग्र था जिसमें देश के अनेक लब्ध प्रतिष्ठ लेखक आलोचकों ने शिरकत की। वनमाली कथा सम्मान से विभूषित पहले सत्र की अध्यक्ष मैत्रेयी पुष्पा ने साहित्यिक कृतियों की महंगी कीमत के उलाहने के खिलाफ कहा कि लोग महंगी शराब खरीद लेते हैं, किंतु किताब के अधिक मूल्य को लेकर प्रश्न उठाते हैं। उपन्यास के साथ जुड़े स्त्री विमर्श व दलित विमर्श पर होने वाली टिप्पणियों पर उन्होंने कहा कि इन्हें भटकाने की जरूरत नहीं है ये दोनों अपने रास्ते स्वयं तय करेंगे। सत्र के

हिन्दी की श्रेष्ठ कविताओं का मंचन - कविता यात्रा। परिकल्पना - संतोष चौबे, निर्देशन - मनोज नायर।

दूसरे अध्यक्ष डा. विनय पाठक ने कहा कि साहित्य में विभाजन की राजनीति नहीं होनी चाहिए। उपन्यास लेखन की नई परंपरा हमें भरपूर आश्वस्त करती है। समीक्षक रामप्रकाश त्रिपाठी द्वारा संचालित इस सत्र में बीज वक्तव्य देते हुए युवा आलोचक अरूणेश नीरन शुक्ला ने कहा कि हिन्दी उपन्यासों में जिस तरह के विमर्श उठाए जा रहे हैं उससे विराट की अवधारणा खंडित होती है।

प्रतिभागी कथाकार प्रभु जोशी ने कहा कि हम नये किस्म के देशीवाद से मुकाबला करते हुए ही अपनी अराजक होती अर्थव्यवस्था से निपट सकते हैं। चर्चा में हिस्सेदारी करते हुए कथाकार मनोज रूपड़ा ने कहा कि शिल्प, निर्वाह तथा भाषागत कलात्मकता के ज़रिए ही हम उपन्यास को पठनीय बना सकते हैं। समारोह के सूत्रधार तथा कथाकार संतोष चौबे ने कहा कि आज पठनीयता एक सबसे बड़ा सवाल है। इसके लिए जरूरी है कि लेखक कथा, शिल्प और भाषा के स्तर पर जोर दें। उपन्यास को विषय वस्तु और पुनर्गठन की ओर वापस लौटना होगा। आलोचना के नए उपकरणों के बारे में भी विमर्श होना चाहिए। दूसरे सत्र की अध्यक्षता उपन्यासकार रवीन्द्र वर्मा तथा आलोचक सुरेश पंडित ने की। आधार वक्तव्य देते हुए वीरेन्द्र यादव ने कहा कि हाशिए के लोगों की उपस्थिति बढ़ी है और जनतंत्र को ध्वनि तंत्र में बदलने की कोशिश की गई है। सुरेश पंडित ने कहा कि लोकतंत्र की तरह उपन्यास भी बदला है, उसकी तकनीक बदली है और उपन्यास ने नयी दृष्टि से देखना शुरू किया है। रवीन्द्र वर्मा ने विश्वास जताया कि यदि उपन्यास सामाजिक, निर्मिति तक ही सीमित है तो उसमें कोई दिक्कत नहीं होगी। रेखा कस्तवार, महेश कटारे, वसंत त्रिपाठी, जीवन सिंह ठाकुर, कैलाश वनवासी, शंभु गुप्त, मुकेश वर्मा और रामप्रकाश त्रिपाठी ने भी इस सत्र में वैचारिक हस्तक्षेप किया।

रंगमंच पर कविता

वनमाली कथा सम्मान समारोह की समापन सांस्कृतिक सभा कविता और रंगमंच की जुगलबंदी का नायाब नज़ारा लेकर प्रकट हुई। इस अनूठी प्रस्तुति का दर्शकों ने 'कविता यात्रा' के रूप में आनंद लिया। प्रसिद्ध कवि, कथाकार संतोष चौबे द्वारा परिकल्पित इस लोकप्रिय रंगमंचीय प्रयोग में रंगकर्मी मनोज नायर ने अपने कल्पनाशील निर्देशन से कविता के अर्थों को अभिनय शैली में बखूबी उजागर किया। निराला, नागार्जुन, मुक्तिबोध, कुँअर नारायण और चंद्रकांत देवताले से लेकर विष्णु खरे, राजेश जोशी तथा अरूण कमल जैसे चिर-परिचित हस्ताक्षर इस कविता संचय में शुमार हुए। संगीत और प्रकाश के प्रभावों के बीच कला समीक्षक विनय उपाध्याय की सूत्रबद्ध टिप्पणियाँ दर्शकों को पूरे समय मंच से बांधे रही। कविताओं की धुनें जनगीतों के लोकप्रिय गायक संतोष कौशिक ने तैयार की है। जबकि संगीत-संयोजन धर्मेश और उमेश का है। तकनीकी सहयोग कमल जैन, प्रशांत सोनी, सौरभ अग्रवाल और आशीष पोतदार का रहा।

अमित पुरोहित-बसंत सकरगाए

कविता यात्रा का एक भावपूर्ण दृश्य

अंतर्लय को पुकारती आवाज़

संगीत मार्तण्ड पं. जसराज

अलौकिक नाद के पर्याय, सम्मानित स्वर पुरुष की सुरीली अभिव्यक्ति सुनने के लिए पूरा शहर रोमांचित था मानो एक पुण्य योग बना हो। एक संस्कार की भांति उनकी आवाज़ सुनते-सुनते एक पीढ़ी बुजुर्ग हो चली है। दैवीय प्रभाव से सराबोर पंडित जसराज की सप्तरंगी आवाज़ के सम्मोहन का एक और सुयोग भोपाल वासियों के लिए बना।

गायकी के फन से सतरंगी संसार में ले जाने वाले पंडित जसराज के स्वर फूटे तो झीलों की नगरी भोपाल पर एक तिलिस्म सा छा गया। मौसम ने परवाज़ बदल दी। झील के किनारे आती लहरें भी बहिरंग में उनके कंठ स्वर को सुनने के लिए मचल पड़ीं।

भारत भवन की बहिरंग शाला संगीत के कुछ ऐसे सुरों से झंकृत हुई कि उपस्थित श्रोताओं को लगा, कानों में किसी ने अमृत घोल दिया हो। मौका था संस्कृति संचालनालय म.प्र. एवं भारत भवन के सहयोग से आयोजित पंडित 'जसराज प्रसंग' का। पंडितजी को बहुत दूर से देखते ही उपस्थित श्रोताओं ने करतल ध्वनि से उनका स्वागत किया। सम्मान का भाव इतना गहरा था कि कब लोग इस गुरु तुल्य संत के आदर के लिए अपनी जगह से उठ गए पता ही नहीं चला। लोगों का अभिवादन पंडितजी ने अपने अंदाज में दोनों हाथ ऊपर उठाकर 'जय हो, जय हो' कह स्वीकारा। अपना स्थान ग्रहण किया और एक विनम्र आवाज माइक से गूँज उठी... हम सभी में वो विराजमान हैं, जिसे हम हजार नाम से बुलाते हैं। हमारे मंच की तरफ से आप सभी को प्रणाम। मैं 'मियां की मल्हार' राग से सभा की शुरुआत कर रहा हूँ। और ऊँ के उद्घोष के साथ श्री अनंत हरि नारायण के शब्द हवा में गूँज उठे!

पंडितजी ने मेवाती घराने की विशेषताओं को निभाते हुए विलंबित एक ताल में राग मियाँ की मल्हार के नए-नए पहलुओं को गायन में प्रस्तुत किया। उन्होंने निषाद और कोमल गांधार का सुंदर प्रयोग किया। इसी तारतम्य में त्रिताल में छोटा ख्याल श्याम बिन...को सुनाकर माहौल को कृष्णमय कर दिया। सूरदास की रचना आज श्याम सपने में देखा, भर आए नैन ढुरक गयो कजरा...ऐसा लग रहा था मानो कुछ बिछड़ गया है और उसे पाने के लिए भक्ति के चरम तक प्रयास किए जा रहे हैं। सूरदास प्रभु कबहि मिलोगे... तज गए गोकुल मिटी गयो झगड़ा... सुनते हुए लग रहा था मानो एक उलाहना है कि हे प्रभु, अब तो दर्शन दे दो। पंडितजी ने कहा सभी हनुमानजी का जन्मदिन मना रहे हैं। मैं एक दो पद हनुमानजी के सुनाता हूँ। पवन पूत हनुमानलला...राग हंस ध्वनि मध्य लय तीन ताल में बंधी इस रचना ने भक्ति रस को शास्त्रीय संगीत की धारा में बांधते हुए संगीत प्रेमियों को एक स्वर्णिम बंधन में पिरो दिया। इसके पश्चात् ताल कहरवा में प्रस्तुति हुई। पंडितजी के गायन में शुद्ध उच्चारण और स्पष्टता के साथ मेवाती घराने की ख्याल गायकी की विशेषताएँ भी झलकीं। पंडितजी ने प्रस्तुति पूरी करने के बाद थोड़ा मूड बदला। उन्होंने कहा 1978-79 के दौरान पाकिस्तान की टीम भारत आई थी। उस सीरीज़ में हर मैच में जहीर अब्बास शतक बना रहे थे। तो अमूल कंपनी ने पूरे शहर में होर्डिंग्स लगवा दिए थे- ज़हीर अब बस।

दरअसल, पंडितजी अपनी संगीत की महफिल को विराम देना चाहते थे। पंडितजी ने कहा- अब बस, लेकिन श्रोताओं का मन भरा नहीं था। उन्होंने अंतिम प्रस्तुति गोविंदम, गोकुलानंदम, गोपालम्, गोपीवल्लभम् दी। राग भैरवी कहरवा ताल में 'ओम मनोः भगवते वासुदेवाय' की ध्वनि से भारत भवन का बहिरंग गुंजायमान हो रहा था। विठ्ठलम्...विठ्ठलम की स्वरध्वनि के साथ गायन का समापन हुआ। मन की मलीनता को सुर की धवलता से धो डालने वाले सप्तरंगों से सराबोर सुरों ने श्रोता पर जादू सा कर दिया। राग-रागिनियों से परे वहाँ उपस्थित श्रोताओं को वो आवाज़ ऐसी लग रही थी मानो दरवेश के दर्शन कराने के लिए अपना कोई दूत भेज दिया हो। आंखें बंद किए वो 'ऊं नमो भगवते वासुदेवाय' गा रहे थे और प्रभु की प्रतिमूर्ति को साक्षात महसूस कर खुद आह्लादित हो रहे थे और श्रोताओं को ईश्वर के दर्शन का अहसास करा रहे थे। उनके साथ तबले पर संगत कर रहे राजकुमार मिश्र, हारमोनियम पर मुकुंद, गायन पर शिष्या तृप्ति मुखर्जी, तानपुरे पर दिलीप मुंगी ने पंडितजी का बखूबी साथ निभाया। सभा का संचालन सुनील वैद्य ने किया। **-सौरभ**

'जसनामी लहर'

'परम पूज्य श्रद्धेय गुरुजी... मेरे लिए बहुत मुश्किल है आपके बारे में बोलना। पहली बात तो मैं कोई वक्ता नहीं हूं, फिर आपके सामने, आपके बारे में बोलना एक संकट है। चूंकि आदेश मिला है, उसे मुझे पूरा करना है। संपूर्ण ब्रह्मांड में सूर्य सबसे तेजस्वी नक्षत्र है, यह तर्क का विषय नहीं हो सकता। चंद्रमा का सौंदर्य भी अविवादित है। हिमालय गौरवमयी शिखर श्रृंखला है, यह भी सर्वमान्य है। वैसे ही पं. जसराज संगीत जगत का एक ऐसा प्रखर हस्ताक्षर है, जिन्होंने मेवाती घराने की परंपरा और अपनी गायकी की विशेषताओं के समन्वय से शास्त्रीय संगीत को नए आयाम दिए। जब आप गाते हैं तो मानो स्वर गाते हैं, प्रकृति गाती है और ब्रह्मांड गाता है।' पंडित जसराज की शिष्या नीलांजना वशिष्ठ गहरे आदर से भरी अपने गुरु की दिव्यता का बखान कर रही थी। मौका था पं. जसराज प्रसंग में उनके व्यक्तित्व और कृतित्व पर संवाद का। ध्रुपद गायक उमाकांत गुंदेचा ने कहा- इतने बड़े संगीतज्ञ को दस-बीस शब्दों में समेटना बेमानी है। सबसे पहली बात घराना क्या है? मूलभूत विचार के साथ कोई चीज़ सामने आती है तो घराने का रूप लेती है। घराना, उसके अंतर्गत आने वाले कलाकार का रक्षा कवच है। घराने के अंदर परंपरा पनपती है। मेवात घराना ऐसा है जिसने पं. जसराज जैसे महान गायक को जन्म दिया। पंडितजी ने इस घराने को अपनी सृजनशीलता, अपनी गायकी, अपनी सोच से मेवात को जसराजमय बना दिया। पंडितजी पर कई लोग ठुमरी गवईया का लेबल लगाना चाहते थे, लेकिन पंडितजी ने अपनी गायकी से उसे 'सुनामी' की तरह 'जसनामी' कर दिया। वे इसी जसनामी की लहर हैं।

कला मर्मज्ञ मुकुंद लाठ ने कहा कि मैं पंडितजी के साथ 60 साल से हूँ। लेकिन उनके बारे में बोलना मुश्किल है। पंडितजी ने राग के भाव को स्वरों से ऐसा रूप दिया कि ऐसा संगीत का सृजन हुआ जो अद्भुत है। संवाद के दौरान पंडित जसराज से भोपाल के संगीतकारों-समीक्षकों ने अपने प्रश्न, संशय और जिज्ञासाएँ साझा की जिनका समाधान पंडितजी ने किया।

चर्चा में तबला वादक पं. किरण देशपाण्डे, लक्ष्मण दीक्षित, कला समीक्षक विनय उपाध्याय आदि ने भी शिरकत की। कार्यक्रम के दूसरे चरण में जसरंगी में पंडितजी जसराज की शिष्य परंपरा में तृप्ति मुखर्जी एवं सुमन घोष ने रागों की जुगलबंदी को प्रस्तुत किया। संगतकारों में तबले पर रामकुमार मिश्र, उल्हास राजहंस, हारमोनियम पर मुकुंद पेटकर थे।

ठौर-ठौर के रंग

रंगमंचीय सरोकारों के प्रति निष्ठा, नवाचार और उत्साही सक्रियता की गवाही में भोपाल के नाट्य परिदृश्य की गहमा-गहमी की मिसाल दी जा सकती है। अनेक रंगसमूहों ने अब समारोह की शक्ल में दर्शकों के बीच हस्तक्षेप किया है। ये उत्सवी पहल एक ओर हमारे समय की रंगचेतना का रेखांकन तो बनी ही हैं, इस तथ्य को जाँचने का अवकाश भी देती है कि आपाधापी और होड़ के दौर में हिन्दी नाटक अपनी गुणवत्ता, प्रतिबद्धता को कायम रखते हुए सुदूर संभावनाओं की उम्मीद को कितनी शिद्दत से बचाए है? मिली-जुली प्रतिक्रियाओं के बीच यह भरोसा तो बाकी है कि तमाम आधुनिक अतिक्रमणों के बीच जिंदगी की धूप-छाँही दास्तानों को अब भी रंगमंच की चौखट पर हमारी बिरादरी देखना चाहती है। यह लोकतांत्रिक शक्ति ही नाटकों के वजूद को बचाए रखती है। आपाधापी से निकलकर प्रेक्षागृहों की ओर रुख करती दर्शकों की भीड़ भी तो इसी विश्वास का परिचायक है। भोपाल के संस्कृति परिसर में रंग आधार और वनमाली सृजन पीठ द्वारा विश्व रंगमंच दिवस पर भारत भवन में आयोजित होने वाला सालाना नाट्य समारोह हो, इफ्तेखार स्मृति रंग महोत्सव हो, हम थिएटर ग्रुप की पहल पर होने वाला रंग आलाप जलसा हो या फिर त्रिकर्षि, शैडो, संभावना नटबुंदेले और रंगशीर्ष जैसे शौकिया रंग समूहों की स्वतंत्र नाट्य प्रस्तुतियाँ हों, ज़िद और जद्दोजहद के बीच रचनात्मक पुरुषार्थ की निरन्तरता दिखाई देती है। दूसरी ओर म.प्र. सरकार की पहल पर नाट्य विद्यालय की भोपाल में शुरुआत का भी देशभर के रंगकर्मियों ने स्वागत किया है।

रंग आधार नाट्य समारोह

शांति, समरसता और समन्वय के मानवीय सूत्रों को थामकर विश्व रंगमंच दिवस (27 मार्च) के निमित्त बारह दिनों का उत्सवी ताना बाना सजाये 'रंग आधार' ने दस्तक दी। संस्कृति और साहित्य के क्षेत्र में अनेक महत्वपूर्ण प्रकल्पों को साकार करने वाली वनमाली सृजन पीठ की साझेदारी में आयोजित बारहवें समारोह का शुभारंभ करने संस्कृति महकमे के मुखिया लक्ष्मीकांत शर्मा कवि-कथाकार संतोष चौबे और समाजसेवी हेमंत सोनी भारत भवन में उपस्थित हुए।

हबीब तनवीर निर्देशित 'राजरक्त'

संयोजन के स्तर पर निश्चय ही बारह दिनों की गतिविधि एक बड़ी चुनौती थी लेकिन भोपाल में ही कई बार मंचित हो चुके नाटकों की इस उत्सव में पुनरावृत्ति का असर दर्शक दीर्घा में साफ दिखाई दिया। 'माय फादर माय मॉम' (निर्देशन - राजेन्द्र पांचाल) जैसी प्रस्तुति जटिल प्रयोग के कारण पहले ही दिन भारी पड़ी लेकिन बाद के दिनों में हबीब तनवीर द्वारा टैगोर की कहानी पर आधारित 'राजरक्त' को बेहतर निर्देशकीय सूत्रों से सधा पाकर दर्शकों ने साधुवाद ही दिया। अलखनंदन संस्कृत प्रहसन 'भवदज्जुकम्' के साथ एक बार फिर रुबरु हुए। रंग आधार के संस्थापक रंगकर्मी राकेश सेठी ने मुंशी प्रेमचंद की चर्चित कथा 'सद्गति' को एक मुद्दत बाद मंच पर उतारा। वहीं नजीर कुरेशी के कारवाँ समूह ने इस दफा 'ए डॉल्स हाउस' के जरिए ऐतिहासिक नाटकों के दायरे से बाहर नयी पहचान गढ़ी। इन सबके बीच दूजो कबीर (अरुण पाण्डेय), कर्मयोगी (संजय मेहता), वर्दी वाले (अशोक बुलानी), नैन नचैया (फरीद बजमी), अक्सर (मनोज नायर) और हम तो ऐसे ही हैं (मनीष जोशी) ने अपनी-अपनी प्रयोगधर्मी सोच-समझ को सतह पर उतारा। समारोह का एक और महत्वपूर्ण आयाम नाटक के विभिन्न पहलुओं से जुड़े किरदारों के सम्मान का होता है। इस क्रम में चन्द्रहास तिवारी (अभिनय निर्देशन) पुनीत वर्मा (रंग संगीत), अर्चना (अभिनय और वेशभूषा) तथा प्रभात राज निगम (रूप सज्जा) को रंग आधार सम्मान से अलंकृत किया गया। समारोह का उल्लेखनीय पहलू प्रेक्षागृह के अनुशासन को बनाए रखना होता है। आखिर कलाओं के आस्वाद के भी कुछ तकाजे होते हैं।

इफ्तेखार नाट्य उत्सव

गर्मी के कसैले अहसासों को काफूर करने का कलात्मक जतन इफ्तेखार क्रिकेट अकादेमी ने किया है। अब भोपाल के दामन पर शोले बरसाती जेठ की शामें नाटकों से गुलजार करने यह संस्था पूरे दमखम से आगे आई है। जलसा सजाया रवीन्द्र भवन में। टॉम अल्टर, गोविन्द नामदेव, रीटा वर्मा, सोनाली भारद्वाज, प्रमिला सिंह, संतोष सुमन, रवि सक्सेना, राजीव सिंह, मीना सिद्दू, अफरोज हसन और योगेश परिहार

फर्रुख शेर खाँ निर्देशित 'अमीर खुसरो'

जैसे मशहूर और नवागत रंगकर्मियों को नवाजा तो मंच के इन खिलाड़ियों के बीच मैदान के हीरो अभिय खुरासिया को भी उनके क्रिकेट कीर्तिमान के लिए पुरस्कृत किया। इक्कीस सालों से अबाध गतिमान इफ्तेखार नाट्य समारोह के शिल्पी हमीदुल्ला खाँ 'मामू' ने अपने साथियों के मशविरे पर ायोजन को काफी हद तक बेहतर रंगों से पेंट किया। मसलन फार्रुख शेर खाँ से अमीर खुसरो और सईद आलम से 'गालिब के खुतूत' नुमाया करने में कामयाब रहे तो अलखनंद से क्लासिक 'महानिर्वाण' प्रशांत खिरवड़कर से 'जंगल में खुलने वाली खिड़की' और आलोक चटर्जी से 'बिच्छू' जैसे प्रसिद्ध नाट्य कृतियों के मंचन के लिए सहमति हासिल की। इधर भोपाल में पिछले दो दशकों में भारत भवन रंगमंडल से दीक्षित गोपाल दुबे 'बाबूजी', अनूप जोशी, बंटी 'प्लीज मत जाओ' और संजय मेहता 'लोई का ताना' लिए अपनी प्रतिभा की बिल्कुल अलग छाप छोड़ते रहे। 'त्रिकर्षि' के मुखिया के.जी. त्रिवेदी ने 'हस्तिनापुर' को चुनकर पुराण प्रसंग के जरिए कुछ शाश्वत सवालों को खंगाला। इस समारोह में एक नये नाट्य लेखक के रूप में बद्र वास्ती के नाटक अमीर खुसरो का शुमार होना उम्मीद जगाता है। दर्शकों की कमी इस इवेंट को भी नहीं रही लेकिन नाटक के पहले अतिथियों के साथ भाषण के लंबे सत्र प्रेक्षकों को अनचाहा प्रहार ही लगते रहे।

रंग आलाप

भोपाल के रंग-परिदृश्य में पिछले कुछ बरसों के दौरान एक और उत्साही आमद हम थिएटर ग्रुप की हुई है रंग आलाप समारोह। इसी समूह के कर्ताधर्ता रंगकर्मी बालेन्द्रसिंह की कल्पना है जिसे शहर में बेहतर प्रतिसाद मिला है। भारत भवन की अंतरंग शाला में कलाप्रेमी आई.पी.एस. अनुराधा शंकर, पवन जैन और म.प्र. नाट्य विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय ने समारोह का शुभारंभ किया। शिखर रंगकर्मी स्व. हबीब तनवीर को समर्पित इस समारोह में उन्हीं का जगत ख्यात, नाटक 'जिस लाहौर नहीं देख्या ओ जन्म्याई नई' का मंचन देखने खासी भीड़ उमड़ी। नया प्रयोग था 'पूर्व रंग' जिसमें नाटक और सिनेमा से जुड़े वरिष्ठ कलाकार ने बहिरंग में गीत संगीत की मीठी तान छेड़ी।

कविता की काया में अभिनय

विनय उपाध्याय

तमाम चुनौतियों से पार जाने की जिजीविषा और अदम्य विश्वास संजोए भोपाल के होनहार युवा रंगकर्मी सौरभ अनंत 'कनुप्रिया' की सौगात लिए कलाओं के मर्कज़ भारत भवन के प्रेक्षागृह में नमूदार हुए। बेशक यह एक जोखिम भरा काम था जिसे अंजाम पर पहुँचते देख भोपाल के आला रंगकर्मी, रसिक दर्शक और सृजनधर्मी हैरत में थे।

हिन्दी की एक क्लासिक काव्यकृति है 'कनुप्रिया' जिसे आधी सदी पहले प्रज्ञावान लेखक धर्मवीर भारती ने लिखा था। रसिकप्रिया राधा के बहाने स्त्री की प्रेमाकांक्षाओं और प्रेम के बहाने बनते-बिगड़ते संवेगों की यह हृदयस्पर्शी लंबी कविता हिन्दी रंगमंच से अछूती तो नहीं रही लेकिन रतन थियम और नादिरा बब्बर जैसे आला रंगकर्मियों के लिए भी इसे नाटक के साँचे में उतारना आसान नहीं रहा। सो जद्दोजहद सौरभ जैसे नवांकुर के लिए भी कम न थी लेकिन अपनी मेधा और कल्पना से 'कनुप्रिया' के केनवास पर इस रंग-चितेरे ने जो तस्वीर गढ़ी उस पर ठगा रह जाने के अलावा दर्शकों की कोई और प्रतिक्रिया नहीं थी। सौरभ के इस सपने को अमली जामा पहनाने उनका हमउम्र सखा-संकुल आगे आया। सौरभ ने 'कनुप्रिया' का कई-कई बार एकांत पाठ किया। कविता की विषयवस्तु औरउसकी अन्तर्ध्वनियों को सुना-गुना। लगभग अमूर्त किस्म की भाव दशाओं की दृश्य परिणति को लेकर सोच के कपाट खोले। युवा साथियों से संवाद और विमर्श किया। बिल्कुल आज के दौर की कन्याओं को किरदार के लिए राजी करते हुए 'कनुप्रिया' की क्लिष्ट हिन्दी के शुद्ध उच्चारण की कवायद कई महीने की। रचना से अंतरंग होने के बाद मंच पर वाचिक-आंगिक से उसके सहकार बनाने का लंबा अभ्यास हुआ। भाव-मुद्राओं से सटीक आलोकन (प्रकाश) का संश्लेष तैयार हुआ। इस बीच मार्ग में संकोच और आशंका की बाधा लेखक भारतीजी की विदुषी पत्नी पुष्पा भारती से मंचन की अनुमति की आई लेकिन 'जिन आँखों में सपने होते हैं, उन आँखों में भविष्य होता है।' पुष्पाजी ने सहमति की मुहर लगा दी।

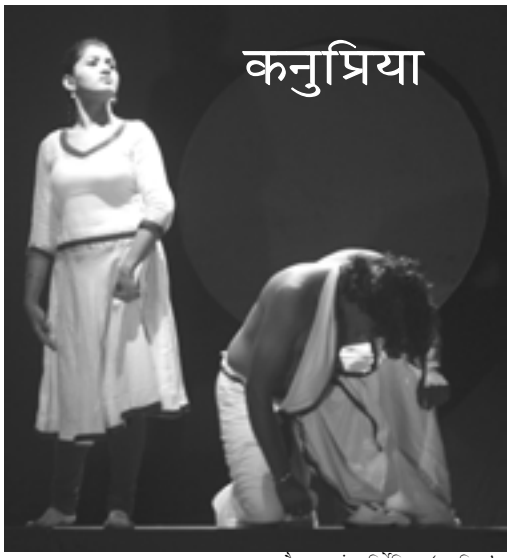

सौरभ अनंत निर्देशित 'कनुप्रिया'

यकीनन 'कनुप्रिया' का मंचन भोपाल की एक ऐतिहासिक घटना थी। अखबार की सुर्खी पढ़कर शहर के रंगप्रेमी शाम ढले भारत भवन की ओर खिंचे चले आए। निश्चय ही यह 'कनुप्रिया' का असर था। हाल खचाखच। गहन कौतुहल। मसलन दमोह से भोपाल निजी प्रवास पर आई छायाकार-कवि आभा भारती ने अपने पूर्व तय कार्यक्रम छोड़ 'कनुप्रिया' की ओर रुख किया और आखिर तक मुग्ध भाव से मौजूद रहीं। यही असर कवि महेन्द्र गगन, इंजीनियर के.के. चौरे और आशीष-विभोर जैसे बिल्कुल नई पीढ़ी के दर्शकों पर भी तारी था। कविता, नाट्य, संगीत की मणिकांचन हमजोली लगभग दो घण्टे का अंतराल पार करती दर्शकों को द्वापर युग में गई जहाँ राधा के रोम-रोम से कृष्ण के प्रति झरता प्रेम-निवेदन, मीठी-मादक स्मृतियाँ, वियोग और जीवन की उलझनों का ताना-बाना एक ऐसा कलात्मक रसायन तैयार करता है जो शताब्दियों पहले का नहीं जैसे आज और अभी का जगत-व्यापार है।

भारत भवन के बड़े मंचीय फलक का बेहद कल्पनाशील इस्तेमाल करते हुए सौरभ ने नाटक का स्थापत्य गढ़ा। दृश्य-बिंब रचे। कलाकारों की देह गतियों को साधा। अभिनय और संवाद की तारतम्यता को प्रयास भर टूटने-बिखरने से बचाया। संगीत को जीवन के

निर्देशक : सौरभ अनंत

आरोह-अवरोह की आवाज़ बनाते हुए कनु की प्रिया की कसक का स्पर्श दिया। जाहिर है कि सौरभ की यह सपनीली आकांक्षा अभिनेताओं और नेपथ्य के सूत्रों पर काफी निर्भर थी।

'कनुप्रिया' की कसौटी पर अंकिता चक्रवर्ती ने दम साध कर कदम आगे बढ़ाया। पारदर्शी अभिनय के साथ खासियत जुड़ी देह भंगिमाओं की। अपने किरदार को अंकिता ने पूरी निष्ठा से आत्मसात किया। थोड़ी कसर बाकी थी तो वह कविता के प्रभावी पाठ की, उच्चारण की जिसे पहले मंचन की गिनती में फिलहाल किनारे किया जा सकता है। अलबत्ता सोनाली भारद्वाज ने इस धरातल पर पूरी चौकसी का परिचय दिया। एकता गोस्वामी जितनी स्वाभाविक अभिनय को लेकर दीख पड़ती हैं, स्पीच के स्तर पर आई शिथिलता उस प्रभाव को थोड़ा फीका कर देती है। गोदान का कृष्ण बनकर मंच पर उतरना हर दृष्टि से भला लगता है। हर स्टेप पर सावधान और आत्मविश्वास से लबरेज लगते हैं। नाटक को लेकर निर्देशक के अपने संज्ञान और कौशल की बात करें तो सौरभ अपने प्रथम निर्देशकीय अनुभव में ही 'कनुप्रिया' की रूह को पकड़ने में कामयाब रहे हैं। उन्होंने नाटक की देह को भी जी लुभाते जेवरों से सजाया है, इस अलंकृति की वजह सौरभ की आकल्पन प्रियता भी है। वे डिजाईन का तालीमशुदा हुनर रखते हैं लिहाजा वो लकदक तो स्वभाविक ही 'कनुप्रिया' को अपेक्षित लुक देती है लेकिन उन्हें संपादकीय नजर से भी प्रस्तुति को काँट-छाँट करने की जरूरत है। आखिर का आधा घंटा नाटक के आस्वाद पर थोड़ा भारी पड़ता है। यही अतिरंजना संगीत के साथ भी अनुभव होती है। दृश्यों के मूड और पात्रों की मनोभूमि के बहुत करीब होकर भी मीठे-कोमल राग स्वरों का आलाप बेसाख्ता प्रस्तुति को बोझिल करता है। बावजूद इसके संजय द्विवेदी और उनकी संगीत मंडली को मौलिक सोचने-रचने के लिए साधुवाद दिया जा सकता है। दीपक नेमा (ताल वाद्य) नितेश मांगरोले (मुरली) और आतिफ खान (गिटार) के इन्टरल्यूट्स अचानक मन का मौसम बदल देते हैं। अनूप जोशी बंटी की प्रकाश परिकल्पना इतनी सधी सुथरी कि यकायक द्वापर के देशकाल को रौशन करती हमारी चेतना में भी सोच की रंग-बिरंगी छवियों को आलोकित करती हैं। सुदीप सोहनी 'कनुप्रिया' की पूरी संकल्पना और संयोजन में सौरभ के हमकदम बने रहे, नेपथ्य का यह संबल अदृश्य होकर भी बोलता है।

पारदर्शी अभिनय : अंकिता चक्रवर्ती

'कनुप्रिया' के मंचन जल्दी ही भोपाल और दीगर शहरों में हों, 'शैडो' ग्रुप की कोशिश जारी है।

मध्यम व्यायोग : निर्देशन-वामन केन्द्रे

भोपाल में नाट्य विद्यालय

मध्यप्रदेश की शिवराजसिंह चौहान सरकार ने अभिनय प्रतिभाओं को तराशने के लिए राष्ट्रीय नाट्य विद्यालय की तर्ज पर मध्य प्रदेश नाट्य विद्यालय शुरू किया है। उद्घाटन के लिए भाजपा नेता लालकृष्ण आडवाणी के अलावा थिएटर के देश भर के तमाम दिग्गजों को जुटाया गया। इनमें विजया मेहता, महेश दत्तानी, रामगोपाल बजाज, बंसी कौल, नादिरा बब्बर, पीयूष मिश्र, राजेंद्र नाथ, गौरी रामनारायणन समेत बीसियों प्रमुख नाम शामिल हैं।

अपने भाषण में आडवाणी ने भी इसे नोटिस में लिया और उम्मीद जताई कि विद्यालय हिन्दी और भारतीय भाषाओं की चिंता करते हुए सारे देश के लोगों की सेवा कर सकेगा। विद्यालय के निदेशक संजय उपाध्याय ने कालिदास, निराला, भारतेंदु, विद्यापति की रचनाओं के नांदी गान का संयोजन कर समारोह की प्रासंगिकता रेखांकित की।

मध्यप्रदेश के मुखिया, शिवराज सिंह चौहान और संस्कृति मंत्री लक्ष्मीकांत शर्मा ने मध्यप्रदेश की सांस्कृतिक विरासत में नए पहलू जोड़ने का आश्वासन दिया। कलाधर्मी भाजपा नेत्री वाणी त्रिपाठी ने ओजस्वी अंदाज में नाट्य विद्यालय की शुरुआत को बड़ी उपलब्धि बताया। प्रसंगवश उल्लेखनीय है कि भोपाल की श्यामला हिल पर रंगश्री लिटिल बैले ट्रुप परिसर में नाट्य विद्यालय के प्रथम सत्र शुरु हो चुका है। पहले बैच के छात्रों को प्रशिक्षण देने विषय विशेषज्ञों को आमंत्रित किया जा रहा है। इस मंगलाचरण के साथ जुड़ी तीन नाट्य प्रस्तुतियाँ - अनुपम खेर की आत्मकथा पर

चण्डालिका : निर्देशन-उषा गांगुली

आधारित उन्हीं का अभिनीत नाटक 'कुछ भी हो सकता है', उषा गांगुली का बहुमंचित नाटक 'चण्डालिका' और वामन केन्डे के निर्देशन में हाल ही तैयार हुआ भास का संस्कृत नाटक 'मध्यम व्यायोग'। स्वाभाविक ही अनुपम के अभिनय के बेहतरीन शेड्स और उनकी बतकही शैली से मुतासिर होने का उत्साह पहली शाम कुछ ज्यादा ही दर्शकों पर दिखाई दिया, लेकिन ऊषा गांगुली की गहरी अन्तर्दृष्टि और अनुभव से निखरे प्रयोग को देखने की गरज भी कम नहीं थी। टैगोर की कहानी में खुलती स्त्री की दुनिया चिंतन का एक नया धरातल तैयार करती रही। इस बीच मराठी-हिन्दी रंगमंच पर समान दखल रखने वाले वामन केन्डे बिल्कुल ताजा सृजन लिए दर्शकों से मुखातिव हुए। दिलचस्प यह कि वामन ने इसे हिन्दी, मराठी और अंग्रेजी में एक साथ तैयार किया है। बाद में मुंबई में तीनों ही संस्करण एक ही दिन मंचित हुए।

यह नाटक महाभारत युद्ध की पृष्ठभूमि में घटोत्कच को लेकर हिडिंबा और भीम के रिश्तों की पड़ताल है। उम्दा कथ्य, एक्शन राला संगीतमय नाटक है यह, मुंबई विवि की नाट्य अकादमी के निदेशक केंद्रे ने बड़े प्रयोग के लिए इसे क्यों चुना? ''जिस स्त्री विमर्श और आधुनिकता की बात हम करते हैं, एक आदिवासी स्त्री हजारों साल पहले करके दिखा चुकी है। इस नाटक में शेक्सपियर की तरह भास भी नए अर्थ खोदने-निकालने को बहुत छोड़ जाते हैं। दूसरे, यह भारतीय सांस्कृतिक धरोहर और परंपरा से जुड़ी ऐसी कृति है, जिसमें अभिनेताओं के प्रशिक्षण के लिए भी बहुत कुछ है।

रंगोत्सव : जीवन के प्रतिबिंब

इंदौर। सांस्कृतिक सरोकारों को समर्पित सामाजिक मंच - सूत्रधार द्वारा परस्पर सहकारी बैंक के सभागृह में एक रंगोत्सव के तहत दो हिन्दी नाटकों के मंचन का मंचन हुआ। 'भूमिका', भोपाल द्वारा प्रस्तुत नाटक 'प्रतिबिंब' के लेखक महेश एलकुचवार व निर्देशक गोपाल दुबे थे। जिंदगी की आपाधापी में आम आदमी जीवन मूल्यों को इस कदर भुला बैठा है कि उसका प्रतिबिंब भी उसका साथ छोड़ देता है। तानाजी बावड़े, भूमिका दुबे, मनोज श्रीवास्तव व प्रियंका ठाकुर के सधे अभिनय ने नाटक की जीवंतता को बनाये रखा। मॉरिस लाजरस का प्रभावी संगीत दृश्यबंधों को और अधिक तीव्रता से दर्शकों तक पहुंचाने में कामयाब रहा। गोपाल दुबे का निर्देशन कसावट से भरपूर था।

नाटक प्रतिबिंब : निर्देशन-गोपाल दुबे

दूसरी प्रस्तुति इंदौर की नाट्य संस्था 'नाट्य भारती' के वरिष्ठ कलाकार, निर्देशक मंच सज्जाकार व कोलाज कलाकार श्रीराम जोग की थी। चालीस मिनिट की इस एकल प्रस्तुति- 'कुछ ऐसे ही' को श्री जोग द्वारा रचित, निर्देशित व अभिनीत किया गया। एक आम आदमी के रोजमर्रा के जीवन में आ रही साधारण घटनाओं को एक कथासूत्र में पिरोकर स्वस्थ हास्य के माध्यम से बखूबी पेश किया।

अशोक नगर में बाल रंग शिविर

भारतीय जन नाट्य संघ (इप्टा) की अशोकनगर इकाई ने एक मई से 25 मई के बीच सातवें ''बाल एवं किशोर नाट्य शिविर'' का आयोजन किया। इस शिविर में 11 से 17 वर्ष की उम्र के करीब 80 बच्चों ने थियेटर की बारीकियां सीखीं और साथ ही संगीत, नृत्य, व्यायाम एवं पत्रकारिता का प्रशिक्षण लिया। 25 मई को हुए समापन समारोह में बच्चों ने शिविर के दौरान सीखी गई गतिविधियों की मंचीय प्रस्तुति भी दी। इन 25 दिनों में बच्चों ने भीष्म साहनी लिखित नाटक ''मुआवजे'' को युवा निर्देशक विवेक शर्मा के निर्देशन में तैयार किया।

शुरुआत फैज अहमद 'फैज' के गीत ''ऐ खाकनशीनो उठ बैठो'' और केदारनाथ अग्रवाल के गीत ''मार हथौड़ा कर कर चोट'' से हुई। इन दोनों गीतों को शिविरार्थी बच्चों ने श्री रतनलाल पटेल और रामदुलारी शर्मा के निर्देशन में तैयार किया था। इसके बाद राकेश विश्वकर्मा द्वारा कोरियोग्राफ किए गए लोकनृत्य ''बुंदेली कर्मा'' और मयंक तिवारी एवं विनीता तिवारी द्वारा निर्देशित ''बधाई'' लोकनृत्य की प्रस्तुति दी गई। बच्चों को चित्रकला की जानकारी उज्जैन से आए युवा चित्रकार और रंगकर्मी मुकेश बिजौले ने दी। बच्चों ने प्रतिदिन डायरी लिखी, जिसमें उन्होंने दिनभर की गतिविधियों का ब्यौरा दर्ज किया। शिविर में बच्चों ने पत्रकारिता का प्रशिक्षण भी लिया। बच्चों द्वारा तैयार शहर की रिपोर्टों, प्रतिदिन की बाल डायरी और बाल कविताओं व चित्रों को संयोजित कर बीते वर्ष की भाँति इस वर्ष भी ''बाल रंग संवाद'' नामक अखबार का प्रकाशन किया गया। सचिन श्रीवास्तव के संपादन में तैयार किए गए इस अखबार का लोकार्पण कहानीकार महेश कटारे ने किया।

मध्यप्रदेश इप्टा के महासचिव और युवा कवि हरिओम राजौरिया ने बताया कि अशोकनगर में बच्चों के साथ रंगकर्म की शुरुआत 1998 में की गई थी। बीच में दीगर कारणों से कुछ वर्ष शिविर आयोजित नहीं हो सका।

मानसूनी आहट के बीच

होरी के रंगों

की बौछार

भोपाल आए पाहुनों को मिली फागुनी सौगात

सुकून भरी मानसूनी बौछारों से खिले, खुशनुमा मौसम में जब गीत-संगीत और नृत्य के वासंती रंग शुमार हुए तो माथुर चतुर्वेदी महासभा की राष्ट्रीय बैठक में देश के विभिन्न राज्यों, शहरों और अंचलों से हिस्सा लेने भोपाल आए पाहुनों तथा स्थानीय कलाप्रेमियों के लिए 12 जून की शाम और भी हसीन हो उठी। रवीन्द्र भवन में सिमट आया सुर-ताल की अलमस्त थिरकन का रोमांच। 'होरी हो ब्रजराज' के नाम से मंचित हुए अनूठे कला रूपक की खुमारी दर्शकों के तन-मन पर देर तक छायी रही। आईसेक्ट स्टुडियो, वनमाली सृजन पीठ और आईसेक्ट विश्वविद्यालय की साझा पहल पर यह विशेष प्रस्तुति परंपरा की राग-छवियों का मनछूता ताना-बाना लिए एक अलौकिक दुनिया की सैर पर ले गयी।

सुप्रसिद्ध कवि-कथाकार संतोष चौबे की परिकल्पना से तैयार हुए अपने किस्म के इस सुंदर रंगमंचीय प्रयोग को रंगकर्मी मनोज नायर और कोरियोग्राफर क्षमा मालवीय के निर्देशन ने बड़ी ही सूझबूझ से भावपूर्ण दृश्यों में ढाला। संतोष कौशिक और राजू राव के संगीत संयोजन तथा गायन ने सुर-ताल का मीठा-मादक असर छोड़ा जबकि लगभग डेढ़ घंटे की इस प्रस्तुति में कला आलोचक विनय उपाध्याय की सटीक उद्घोषणा लोक संगीत के अनेक पोशीदा पहलुओं का खुलासा करती रही। कमल जैन का प्रकाश संचालन शुरू से आखिर तक दृश्यों को अनुकूल रंगतों से सजाता रहा जबकि प्रस्तुति के तकनीकी पक्षों को प्रशांत सोनी, आशीष पोतदार, सौरभ अग्रवाल और स्मिता नायर ने साधा। इस अवसर पर आईसेक्ट यूनिवर्सिटी के कुलाधिपति और 'होरी हो ब्रजराज' के निर्माता संतोष चौबे ने कहा कि भारत की पारंपरिक लोक विरासत से जुड़े आईसेक्ट और वनमाली सृजन पीठ के प्रयास लगातार जारी रहेंगे।

'होरी हो ब्रजराज' में ब्रज और मैनपुरी क्षेत्र के चुनिंदा तेरह लोकगीतों को दृश्य-श्रव्य प्रस्तुति के लिए शामिल किया गया है। शुरुआत 'चलो सखी जमुना पे मची आज होरी' से होती है। कृष्ण, उनकी प्रिया राधा और गोकिल के ग्वाल-बाल मिलकर रंग-गुलाल के बीच मीठी छेड़छाड़ का उल्लास भरा माहौल तैयार करते हैं। फागुन की अलमस्ती का सिलसिला होली गीतों के साथ आगे बढ़ता है और ताल पर ताल देता 'आज मोहे रंग में बोरो री' पर जाकर मिलन और आत्मीयता के साथ सराबोर होता है। द्वापर युग से आज तक चली आ रही परंपरा के गीतों की यह खनक देर तक राजधानी के रसिकों से अठखेलियाँ करती रही। मिट्टी की सौंधी गंध से महकते गीतों और उन्हें संवारती मीठी-अल्हड़ धुनों के साथ लगभग 30 कलाकारों के भावपूर्ण अभिनय ने होरी के इस रूपक को एक रोमांचक अहसास में बदल दिया। संगीतकार संतोष कौशिक के अनुसार नए दौर के बाजार में अर्थहीन गीतों और शोर-शराबे भरे संगीत के बीच भारतीय आत्मा को उजागर करते जनपदीय गीत-संगीत से रुहानी रिश्ता जोड़ने की नायाब पहल है- 'होरी हो ब्रजराज'। हर बार यह प्रस्तुति दर्शकों के सिर चढ़कर बोलती है।

भारतीय जीवन के उत्सवधर्मी सांस्कृतिक अतीत का आईना बनती 'होरी' की यह पेशकश दरअसल हमारे मटियारे संस्कारों का सौंधा सुरीला अहसास है। ऐसी रुमानी दस्तक, जो घर्षण, मिश्रण और प्रदूषण के मौजूदा दौर में हमारे सारे भीतरी तनावों को काफूर कर सुकून की सतह देता है। यही वजह थी कि मध्यप्रदेश के संस्कृति और जनसंपर्क मंत्री श्री लक्ष्मीकांत शर्मा, महाराष्ट्र के पूर्व काबिना मंत्री श्री सतीश चतुर्वेदी, म.प्र. समाज कल्याण बोर्ड की अध्यक्ष श्रीमती उषा चतुर्वेदी, चतुर्वेदी महासभा के राष्ट्रीय अध्यक्ष श्री राजनाथ से लेकर लगभग पाँच सौ ज्यादा खास-ओ-आम कला रसिक 'होरी हो ब्रजराज' के मोहपाश में शुरू से आखिर तक बंधे रहे। प्रस्तुति के समापन अवसर पर लक्ष्मीकांत शर्मा, सतीश चतुर्वेदी, राजनाथ चतुर्वेदी, संतोष चौबे, विनीता चौबे, धनेश चतुर्वेदी आदि ने 'होरी' की कलाकार टीम का पुष्पों से स्वागत कर उन्हें साधुवाद दिया।

'होरी गीतों की खुमारी श्रोताओं पर इस कदर हावी रही कि रवीन्द्र भवन से रुखेसत करते हुए अनेक श्रोताओं ने आईसेक्ट स्टूडियो द्वारा निर्मित ब्रज और मैनपुरी होरी गीतों की संगीतमय सीडी की सौगात हासिल की।

सुर-ताल और लयकारी भरे तेरह होली गीत

चलो सखी जमुना पे..., वृंदावन नटवर करत रार..., यमुना तट श्याम खेलत होरी..., कान्ह खेलें कहां... (मैनपुरी), यशोदा नंद को हमें तो जोगनिया..., संग नवला संग नवला..., बरजोरी करें रंग डारी..., होरी हो ब्रजराज..., बहुत दिनन सों रूठे श्याम..., नैनन में तकि मारे गुलाल..., मैं तो तोही को ना छाडूंगी..., रंग में बोरी री...

मंच पर कलाकार

रितु साहू, ज्योति गौर, तनुश्री मोहबे, शिवानी शर्मा, चंचल गौर, आदिश्री वर्मा, महक शहादत पुरी, आशिमा श्रीवास्तव, तान्या बख्शी, आस्था अजमेरा, सुरभि, राघवेन्द्र कुशवाह, गगन श्रीवास्तव, मिथुन घूरिया, शैलेन्द्र।

लोकार्पण

'रंगों के आसपास'

कवि प्रयास जोशी की कविता पुस्तक 'रंगों के आसपास' का लोकार्पण करते हुए डॉ. विजय बहादुर सिंह, राजेश जोशी, संतोष चौबे, महेन्द्र गगन, प्रज्ञा रावत और राग तेलंग

साहित्य के क्षेत्र में वनमाली सृजन पीठ ने पिछले दशक से साहित्यिक गुटों और रूढ़ीवाद के बरक्स एक प्रतिसंसार रचने का काम किया है। समय-समय पर इसके माध्यम से विविध आयोजन होते रहे हैं।

विगत दिनों कवि प्रयास जोशी के दूसरे काव्य संग्रह 'रंगों के आसपास' का विमोचन वनमाली सृजन पीठ के तत्वावधान में हुआ। इस गरिमामयी कार्यक्रम में उक्त कृति पर खुलकर चर्चा हुई, जिसमें तटस्थता और समालोचना का उत्कृष्ट स्वरूप देखने को मिला। कार्यक्रम की अध्यक्षता कवि संतोष चौबे, संस्थापक वनमाली ने की। मुख्य वक्ता आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह थे और कवि राजेश जोशी विशेष रूप से मंच पर आसीन थे। प्रयास जोशी कने पहली काव्य कृति 'कालचित्र' मध्यप्रदेश साहित्य परिषद् के सहयोग स आयी थी। इस दूसरे कृति में उनके साहित्यिक ग्राफ के उठने और गिरने पर खासी चर्चा हुई। युवा कवि राग तेलंग ने यद्यपि कवि प्रयास जोशी का प्रगतिशील लेखक संघ के प्रति प्रतिबद्ध होने की बात की। उन्होंने कहा कि वे परिभ्रमण के अनुभव और मिलने-जुलने वाले से संवेदित होकर कविताएं लिखते हैं। उनकी कविताओं में संगत और लेखकीय मत्रिता को भी देखा जा सकता है। इस फौरी ढंग से की गई टिप्पणी के सापेक्ष युवा कवियित्री प्रज्ञा रावत ने प्रयास जोशी की कविता की चीर फाड़ की उन्होंने कहा कि लोक की आंचलिक चेतना कविता में साथ-साथ चलती है। यह उनकी कविता के लिए अच्छी बात है।

महेन्द्र गगन के अनुसार, संघर्ष प्रेम और कटाक्ष करती प्रयास जोशी की कविताएँ समाज से प्रश्न करती हैं। उन्होंने कहा कि प्रयास जोशी के पास विचारधारा की आँख है जिससे वे कविता को दिशा देते हैं। वरिष्ठ कवि राजेश जोशी ने प्रयास जोशी की कविताओं पर कहा कि उनकी कविताओं में खास किस्म का सिनेसिज्म दिखाई देता है जो हर हद तक उजड्डता तक पहुँच जाता है। हाँ यह राहत देता है कि प्रयास की कविता मनुष्य के श्रम, संसर्ग और संपर्क से पगी हुई है जहाँ प्रकृति रंग बदलती है। उन्होंने कहा यद्यपि 'रंगों के आसपास' जैसी कोई बात इस संग्रह में नहीं आती। वरिष्ठ आलोचक और मुख्य वक्ता डॉ. विजय बहादुर सिंह ने कविता के बारे में अपनी राय व्यक्त की और बताया कि कविता वस्तु नहीं है, वह संभावना है। प्रयास के लिए जरूरी है कि वे भाषा और शिल्प पर ध्यान दे। भाषा की फिजूलखर्ची कविता के विरोध में जाती है। इस तीखी आलोचना के पश्चात् कवि संतोष चौबे ने अपनी बात रखी। उन्होंने कहा कि प्रयास की कविताओं में एक तरह का आंतरिक गुस्सा, या कहें चुप्पी क्यों नजर आता है यह जानना दिलचस्प होगा। उनका सिनिसिज्म एक तरह की आत्म स्वीकृति है। उनकी कविता आम वाक्यों में आती है किन्तु मूल स्वर व्यंग्य का है। सिर्फ विचार से जो कविता बनती है वो बहुत मजबूत नहीं होती। इन मिली जुली प्रतिक्रियाओं के बीच यह कार्यक्रम सम्पन्न हुआ। कार्यक्रम का संचालन कला समीक्षक और संपादक कला समय विनय उपाध्याय ने किया। यह राहत देता है कि आज जबकि पुस्तक का विमोचन समारोह एक तरह की रस्म अदायगी हो गई है। वनमाली सृजन पीठ के माध्यम से ऐसे समारोह में साहित्य की वस्तुस्थिति सामने आ रही है। **-मोहन सगोरिया**

'पाठ और संवाद' में ललित निबंध

ललित निबंध न तो खेत-बाड़ी में पैदा होता है, ना ही हाट-बाजार में बिकता है। वह तो भारतीय जीवन के सनातन सामाजिक सरोकारों की पैरवी करता हुआ इस कायनात (संसार) की सुन्दरता को शब्द-शब्द में महफूज रखने वाली विधा है। विश्वग्राम की चुनौतियों और बाजार की बेचैनियों के इस दौर में ललित निबंध आम आदमी की आत्मा का आईना बनकर ज्वलंत सवालों के उत्तर खोज रहा है।

हिन्दी के सुपरिचित ललित निबंधकार और डी.लिट. की मानद उपाधि से विभूषित डॉ. श्रीराम परिहार ने यह उद्‌गार वनमाली सृजन पीठ द्वारा आयोजित 'पाठ और संवाद' समारोह में व्यक्त किए। राजधानी के साहित्य प्रेमियों से मुखातिब श्री परिहार ने इस अवसर पर अपनी बहुचर्चित रचना ''आकाशप्रिया के नाम पाती'' का भावपूर्ण पाठ किया। धरती के नाम आकाश की लिखी इस चिट्ठी नुमा रचना में परिहारजी ने विराट भारतीय जीवन और संस्कृति का संदर्भ लेते हुए विध्वंस और विनाश के तांडव से जूझते मनुष्य की ओर से सवाल किया- ''क्या मन के घाव कभी भर पाएंगे? ममता के आंसू क्या कभी पोंछे जा सकेंगे?

वनमाली सृजन पीठ में ललित निबंध का पाठ करते डॉ. श्रीराम परिहार। बतौर अध्यक्ष आलोचक रमेश दवे

वागीश्वरी सम्मान, श्रेष्ठ कला आचार्य और दुष्यंत सम्मान सहित कई शासकीय और गैर शासकीय संस्थाओं के सम्मानों से विभूषित डॉ. परिहार ने संवाद के दौरान कहा कि आज के रचना समय में ललित निबंध अपनी पिछली विषयगत छवि और भाषा संस्कार से बहुत आगे की यात्रा कर चुका है। उसमें आज की बदरंग होती दुनिया और अविश्वासों घिरे मनुष्य समाज के अंतरंग पहलुओं को समेटने तथा उनके साथ एक चिंतनपूर्ण रिश्ता कायम करने की कूबत है।

कार्यक्रम की अध्यक्षता करते हुए वरिष्ठ आलोचक शिक्षा शास्त्री और म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति के अध्यक्ष डॉ. रमेश दवे ने कहा कि कविता, कहानी और व्यंग्य के बाद ललित निबंध के पाठ की परंपरा का सूत्रपात हिन्दी की ऐतिहासिक घटना है। समारोह का संचालन कर रहे कला समीक्षक और सृजन पीठ के संयोजक विनय उपाध्याय ने डॉ. परिहार की रचनात्मक यात्रा, संघर्षों और उपलब्धियों पर प्रकाश डाला। कार्यक्रम के पूर्व रंग में प्रख्यात संगीतकार पं. ओमप्रकाश चौरसिया के निर्देशन में तैयार 'बादल राग' संगीत रूपक की प्रस्तुति हुई जिसमें महाकवि निराला के गीत ''झूम-झूम मृदु गरज-गरज घन घोर' और जनकवि नागार्जुन की रचना 'मेघ बजे' का मधुकली वृन्द के कलाकारों की आवाज में उपस्थित जनों ने आनंद लिया। वरिष्ठ कवि और मध्यप्रदेश साहित्य अकादमी के पूर्व निदेशक डॉ. देवेन्द्र दीपक सहित नरेन्द्र पबरा, महेन्द्र गगन, प्रेमशंकर शुक्ल, शांतिलाल जैन, सुरेश तातेड, प्रशांत सोनी आदि ने अतिथियों का स्वागत किया तथा संतोष चौबे द्वारा संपादित और सृजन पीठ तथा आईसेक्ट स्टुडियो द्वारा प्रकाशित ग्रंथ तथा पारंपरिक लोक संगीत के सीडी, अलबम भेंट किए।

कवि सगोरिया, नीलेश और इंदू पुरस्कृत

कविता हारे हुए की संजीवनी है। कविता जीवन का स्थायी भाव है। रज़ा कविता पुरस्कार कार्यक्रम में यह आश्वासन कथाकार मालती जोशी ने अध्यक्ष की आसंदी से दिया। उस्ताद अलाउद्दीन खाँ संगीत एवं कला अकादमी में आयोजित कार्यक्रम के दौरान श्रीमती जोशी और अकादेमी के निदेशक उल्हास तैलंग ने युवा कवि मोहन सगोरिया को कविता संग्रह - 'जैसे अभी-अभी' वर्ष 2008, सुश्री नीलेश रघुवंशी को कविता संग्रह - 'अंतिम पंक्ति में' वर्ष 2009 तथा वर्ष 2010 के लिए सुश्री इन्दू श्रीवास्तव को काव्य कृति - 'आशियाने की बातें' के लिए पुरस्कृत किया। प्रख्यात चित्रकार सैयद हैदर रज़ा द्वारा 1981 में स्थापित इस पुरस्कार के तहत प्रतिवर्ष एक युवा कवि तथा युवा चित्रकार को शॉल, श्रीफल, प्रमाण-पत्र व पाँच हजार रुपए की राशि प्रदान की जाती है। आलोचक डॉ. विजय बहादुर सिंह ने कहा कि कविता हमें नए जीवन की ओर ले जाती है तथा सांस्कृतिक तौर पर जिंदा रखती है।

संचालन कला समीक्षक विनय उपाध्याय ने किया। नीलेश कार्यक्रम में शामिल नहीं हो पायीं। उल्लेखनीय है कि इन पुरस्कारों के लिए गठित जूरी में ज्ञान चतुर्वेदी (व्यंग्यकार) कवि-चिंतक मनोज श्रीवास्तव तथा कवि-कथाकार संतोष चौबे शामिल थे। **-वसंत सकरगाए**

रंगकर्मी विजय दिंडोरकर ने सुनाई अपनी दास्तान

अभिनय मेरे लिए जिंदगी का आईना रहा है। अपनी आधी सदी की कला यात्रा में नाटक एक ऐसा हमसफर रहा जिसके साथ मैंने अपनी और दुनिया की भीतरी परतों को टटोला। लेकिन अफसोस इस बात का है कि परिश्रम, प्रतिबद्धता और तड़प मौजूदा दौर में किनारा कर गई है। सब पर प्रसिद्धि का भूत सवार है। बुजुर्ग रंगकर्मी, हिन्दी मराठी नाटकों के मशहूर अभिनेता श्री विजय दिंडोरकर इस बेलौस वक्तव्य के साथ अपने प्रशंसकों के रूबरू थे। नाट्य समूह रंग विदूषक, सांस्कृतिक पत्रिका 'कला समय' और रंगश्री लिटिल ट्रुप के आग्रह पर वे 'छवि संवाद' श्रृंखला के तहत आत्मकथ्य के लिए हाजिर हुए। इस अवसर पर श्री दिंडोरकर को सुदीर्घ रंग अवदान के लिए सम्मानित किया गया। नाट्यकर्मी श्री उदय शहाणे ने आयोजन की पृष्ठभूमि पर प्रकाश डाला। 'कला समय' के संपादक विनय उपाध्याय ने जानकारी दी कि 'छवि संवाद' के तहत दिए जा रहे आत्मकथ्य को पुस्तकाकार प्रकाशित करने की योजना है। सिनेमा और दूरदर्शन के अनुभव सुनाते हुए श्री दिंडोरकर ने कहा कि प्रख्यात फिल्मकार सई परांजपे, अभिनेता दिनेश ठाकुर और विजय मेहता के साथ काम करते हुए निश्चय ही मेरी लोकप्रियता में इजाफा हुआ लेकिन मराठी-हिन्दी नाटकों में काम करना मुझे ज्यादा सुखद लगा। 80 वर्षीय दिडोंरकर भारतीय स्टेट बैंक के अधिकारी रहे हैं।

'फकीर से वज़ीर' का लोकार्पण

'मुझे बेहद खुशी है कि नीरजजी जैसे कवि के हाथों मेरे जीवन पर केंद्रित यह पुस्तक जनता को सौंपी गई है।' यह शब्द बाल कवि बैरागी के थे, जब उनकी किताब 'नंदाबाबा - फकीर से वजीर' का विगत दिवस वरिष्ठ कवि और गीतकार गोपालदास नीरज ने किया। किताब के लेखक साहित्यकार राजेन्द्र जोशी हैं। इस मौके पर श्री नीरज ने श्री बैरागी के साथ अपने आत्मीय संबंधों का जिक्र करते हुए उन्हें राष्ट्रीय चेतना का एक महत्वपूर्ण कवि बताया। इस पर श्री बैरागी ने खुशी जाहिर की।

काले धन पर संवाद

उदयपुर। काले धन की अर्थ व्यवस्था का साम्राज्य प्रत्येक क्षेत्र में फैला हुआ है। इसके प्रभाव से समाज का हर वर्ग बुरी तरह प्रभावित है। भ्रष्टाचार काले धन का एक हिस्सा है। कालेधन की अर्थ व्यवस्था पब्लिक तथा प्राईवेट सेक्टर का संयुक्त उत्पाद है। उक्त विचार डॉ. मोहनसिंह मेहता मेमोरियल व्याख्यान देते हुए प्रसिद्ध शिक्षाविद् तथा लेखक डॉ. अरुण कुमार ने व्यक्त किये। डॉ. कुमार ने कहा कि कालेधन की अर्थ व्यवस्था में 35 लाख करोड़ रुपया प्रति वर्ष पैदा होता है तथा 3.5 लाख करोड़ देश से बाहर चला जाता है। कालेधन की वजह से सकल घरेलू उत्पादन, सार्वजनिक सेवा, विधायिका तथा कार्यपालिका पर विपरीत प्रभाव दृष्टिगत होता है।

प्रश्नोत्तर करते हुये डॉ. कुमार ने कहा कि प्रजातांत्रिक व्यवस्थाओं को मजबूत बनाने से ही उत्तरदायित्व आता है तथा इससे काले धन पर रोक लग सकती है। विद्याभवन के अध्यक्ष रियाज तहसीन ने कहा कि नागरिकता की भावना के अभाव से काली अर्थ व्यवस्था पनती है। विषय परिचय प्रियंका सिंह ने किया तथा धन्यवाद ट्रस्ट अध्यक्ष विजय एस. मेहता ने माना।

-नन्द किशोर शर्मा

अज्ञेय स्मरण

सागर। 'बुनियाद' सांस्कृतिक समिति ने अज्ञेय जन्मशती के कार्यक्रमों की श्रृंखला के तहत् आदर्श संगीत महाविद्यालय में दिल्ली के युवा समीक्षक संजीव कुमार का व्याख्यान आयोजित किया।

संस्था के अध्यक्ष अनिल वाजपेयी ने अज्ञेय के बहुआयामी व्यक्तित्व को रेखांकित किया और बताया कि वे एक अच्छे संगठनकर्ता और श्रेष्ठ पत्रकार भी थे। संजीव ने अपने व्याख्यान के दौरान विश्लेषित करते हुए यह धारणा रखी कि प्रेमचंद उत्तरकाल में उपन्यास को देखने के दो नजरिए लगभग जड़ हो गये। एक तो मार्क्सवादी प्रभाव दूसरा फ्राइडियन प्रभाव है। संजीव कुमार ने अपने वृहद् उद्धरणों से अज्ञेय पर फ्राइडियन प्रभाव के सिद्धांत का सफलतापूर्वक प्रति-आख्यान

किया। ज्येष्ठ साहित्यकार रमेशदत्त दुबे ने स्वयं के संस्मरणों द्वारा अज्ञेय के व्यक्तित्व के स्नेहिल स्वरूप तथा उनमें ज्ञान की व्यापकता पर प्रकाश डाला। संचालन मुन्ना शुक्ला ने किया। कार्यक्रम के अंत में प्रसिद्ध समीक्षक तथा संगठक कमला प्रसाद को दो मिनिट का मौन साध कर श्रद्धांजलि अर्पित की।

-कविता शुक्ला

'पुनः भीमबैठका' : धरोहर के करीब

चित्र : भारती सिंह

सुनने की मोहलत मिले तो आवाज़ है पत्थरों में.... हजारों बरस पहले शैल-गुफाओं को अपना बसेरा बनाते हुए आदिम रहवासी ने पत्थर की दीवारों पर अपनी कल्पना का ऐसा ही रूप रचा था और जैसे उन सख्त चट्टानों की खामोश जुबां ने गुनगुनाना शुरू कर दिया था। भोपाल की सरहद से सटे भीमबैठका के एकांत में आज भी हमारे पूर्वज चितेरों की इस धरोहर के साक्ष्य नुमाया हैं। दिलचस्प पहलू ये है कि अतीत के दामन पर लिखी ज़िंदगी की इस एक और इबारत को फिर से रचने की कवायद हमारे समय के कुछ चित्रकारों ने की अगुवाई की - सुपरिचित चित्रकार वंदिता श्रीवास्तव ने। बाकायदा एक शिविर की शक्ल तैयार हुई और उसमें विभिन्न शैलियों में काम करने वाले चित्रकारों को शामिल किया यानी लगभग दो दर्जन कलाकारों के इस संकुल में रंगों-रेखाओं का उमड़ता सैलाब नागर चित्रकारों के साथ गोंड कलाकारों की भी संगत लिए था। यह रंग-शिविर भारतीय चित्रकला और पुरातत्व के प्रकाण्ड ध्येता स्व. विष्णु श्रीधर वाकणकर के प्रति आदर का प्रतीक बना जिन्होंने अपने जीते-जी बीहड़ जंगलों की खाक छानकर भीमबैठका के शैलाश्रय की खोज की। धरोहर के ये बेशकीमती धूसर नमूने आज सारी दुनिया के लिए कौतुहल का किनारा बने हुए हैं।

शिविर के दौरान अपने-अपने केनवास और कूची लिए कलाकारों ने भीमबैठका की भित्तियों पर उभरी आकृतियाँ ही नहीं, उन वादियों को भी बहुत गहरे जज़्ब किया जिसके सन्नाटे में हमारे गुजश्ता वक्त की सांसों का सरगम सुनाई देता है। सोच की परतों पर पुराने की उंगली पकड़कर कुछ नया सिरजने और आपसदारी का सिलसिला शुरू हुआ और देखते-देखते खाली-ख़ामोश चौखटों पर समय और सभ्यता के रंग-बिरंगे अक्स उभर आए। मनुष्य, पशु, चट्टानें, खेत-जंगल, आसमान, सरोवर अपनी नई सज-धज के साथ रौशन हुए।

जब ये कृतियाँ उठकर भारत भवन (भोपाल) की रंगदर्शनी दीर्घा की दीवारों पर चस्पा हुई तो लगा जैसे भीमबैठका का आधुनिक संस्करण कलाओं के घर अवतरित हो उठा। रुचि और जिज्ञासा का नया क्षितिज खुला। कला प्रेमी दर्शकों ने इस नुमाईश की ओर रुख किया। सृजनात्मक संवाद की नई राहें खुली और इस तरह धरोहर से नज़दीकियों की एक नेक कोशिश अपने मकसद में कामयाब हुई। शिविर की संयोजक वंदिताजी ने ठीक ही फरमाया है- ''रचित चित्रों के दिग्दर्शन के बाद मन में संभवतः यह विचार जरूर आंदोलित हुआ होगा कि क्या पुनः जन्म हुआ है, उन चित्रकार आदिमानवों का जिन्होंने साकार की थी अपनी कल्पना उस युग में।'' बेशक वंदिताजी, हम सबके भीतर वह आदिम स्पंदन बाकी है। दरकार है उसे जगाने की। सलाम, कलम के नए सारथियों को जिन्होंने भीमबैठका में पुनः प्रवेश किया। **-विनय उपाध्याय**

लोकशाही की वकालत

भोपाल। राजा नीति का पालक है तो अनीति का पोषक भी वही है। जब-जब राजा अनीति की राल चला, तब-तब व्यवस्था निरंकुश हुई। इस निरंकुश व्यवस्था का निशाना सदैव निरीह जनता ही होती रही। विख्यात साहित्यकार एवं शिक्षाविद डॉ. देवेन्द्र दीपक का काव्य-नाटक 'भूगोल राजा का : खगोल राजा का' इसी भाव-भूमि के आस-पास है। डॉ. दीपक ने हिरण्यकश्यप और प्रहलाद की पौराणिक कथा के माध्यम से आत्मकेन्द्रित और निरंकुश हो चुकी व्यवस्था का अच्छा चित्र खींचा है। यह नाटक अंधी आकांक्षा के अंधे ताण्डव की कथा का नाटक है।

इस नाटक में डॉ. दीपक ने आपातकाल और उससे उपजी त्रासद स्थितियों को बड़ी खूबसूरती से परोसा है। स्वच्छंदता और स्वतंत्रता के बीच की बारीक रेखा अच्छी तरह उभरी है। नाटक इस तथ्य को बखूबी प्रेषित करता है कि वरदान आत्मरक्षा के लिए होते हैं, उत्पीड़न के लिए नहीं। जनता की मुक्ति के लिए प्रहलाद का आह्वान इस नाटक को लोक शाही की संस्थापक कृति का स्तर देता है। इस नाटक का मंचन रवीन्द्र भवन में ख्यातनाम रंगकर्मी प्रेमगुप्ता के निर्देशन में नई पीढ़ी के रंगकर्म से जोड़ने में लगी संस्था 'चिन्ड्रन्स थियेटर अकादमी' के बैनर तले हुआ।

इस नाटक की शक्ति उस जड़ में है जो पिता हिरण्यकश्यप और पुत्र प्रहलाद के बीच है, जो हिरनाकुश और उसकी पत्नी और कयाधु के बीच है, जो प्रहलाद की हत्या के लिए अनुबंधित राजकर्मचारियों के बीच है। यह मूल्यों का द्वंद्व है। नाटक में भक्त प्रहलाद के आचार्य का अभय और तेज प्रेरक है। हिरण्यकश्यप जहाँ बेलगाम सत्ता का प्रतीक है वहीं प्रहलाद निरीह प्रजा की सशक्त आवाज। मंच पर हिरण्यकश्यप की भूमिका में स्वयं निर्देशन प्रेमगुप्ता और प्रहलाद की भूमिका में आरुणि परिमल अपनी-अपनी भूमिका में न्याय करते दिखे। प्रहलाद की माँ कयाधु की अलग भूमिका में वैशाली गुप्ता ने अपने किरदार के तनावों को अच्छी तरह जिया। अन्य किरदारों में चित्रांश, ऋतेश, परमिंदर, नीलेश सोनी और सुश्रत ने दमदार अभिनय की छाप छोड़ी।

हालांकि नाटक लिखते समय भले ही लेखक ने केन्द्र में आपातकाल की विभीषिका को रखा हो, किन्तु इस नाटक को देखते समय दर्शक के सामने गुजरे 'कल' से ज्यादा 'वर्तमान' होता है। शायद इससे भी ज्यादा भयावह आने वाले 'कल' के अक्स के अनुमान में रहता होगा। जब और जहाँ सत्ताधीश निरंकुश होंगे- यह नाटक लोकशाही की स्थापना के लिए प्रासंगिक बना रहेगा।

-दीपक पगारे

मकसद से जुड़ी कविताएँ

''ममता तिवारी की कविताएँ जिन्दगी का मकसद बताती हैं। उनकी कविताओं में जिन्दगी के जद्दोजहद के साथ प्रेम के विविध आयाम भी हैं। ये कविताएँ जीवन के इन्द्रधनुषी रंगों की नुमाइश है। ममता ने अपने नाम के अनुरूप ही इन कविताओं में तमाम रंग भर दिये हैं।'' ये उद्‌गार थे प्रख्यात रंगकर्मी एवं सिने अभिनेता पद्‌मश्री टॉम आल्टर के। उन्होंने भोपाल स्थित दुष्यन्त कुमार स्मारक पाण्डुलिपि संग्रहालय में आयोजित चर्चा गोष्ठी की अध्यक्षता करते हुए ये विचार व्यक्त किये। ऑल्टर ने ममता तिवारी के कविता संग्रह 'क्या कह रही है जिन्दगी' से कुछ रचनाओं का पाठ भी किया मसलन- ''मौसम फिर शरारती हो गया है/हरा दुपट्टा ओढ़ साइकिल पर/बारिश में भीगने निकला/बालों को झटका देकर/बिजलियाँ चमका रहा है।'' आरम्भ में ममता की कविताओं पर आधारित पोस्टर प्रदर्शनी का उद्‌घाटन हुआ। संग्रहालय द्वारा प्रतिमाह प्रस्तुत की जाने वाली भित्ती पत्रिका 'बयान' पर श्री भीष्म सिंह चौहान की कविता 'मैं विरोधी शक्तियों की गोदियों में पल रहा हूँ' का अनावरण भी किया गया। स्वागत संग्रहालय निदेशक राजुरकर राज ने किया। इस अवसर पर ममता पर एकाग्र 'विचार आकलन' के विशेषांक का लोकार्पण भी हुआ। ममता तिवारी ने अपने संग्रह से कुछ कविताओं का पाठ करते हुए कविताओं के सन्दर्भ भी दिये। वरिष्ठ पत्रकार एवं लेखक मदन मोहन जोशी ने कहा कि इन कविताओं में आम आदमी की संवेदनाएँ मुखर होती हैं। गजलकार विजय वाते के अनुसार ममता की कविताएं अपनत्व की बात करती हैं। डॉ. निहारिका रश्मि, मीरा सिंह, विनोद कुमार नयन, परशुराम शुक्ला आदि ने भी विचार व्यक्त किये। कृतज्ञता आलोक त्यागी ने व्यक्त की। संचालन बद्र वास्ती ने किया।

'और सोच में तुम'

गीतकार नरेन्द्र दीपक के तीसरे गीत संग्रह 'और सोच में तुम' का लोकार्पण भोपाल स्थित हिन्दी भवन में एन.एच.टी.सी. के कार्यपालक निदेशक के.एम. सिंह ने किया। समारोह म.प्र. राष्ट्रभाषा प्रचार समिति और संस्कृति संचालनालय द्वारा वरिष्ठ हिंदी सेवी कैलाशचन्द्र पंत की अध्यक्षता में संपन्न हुआ। प्रख्यात गीतकार और गजलकार चन्द्रसेन विराट, गीतकार ऋषि श्रृंगारी और कवयित्री मधु शुक्ला ने दीपक के व्यक्तित्व और कृतित्वों से जुड़े संस्मरणों के माध्यम से अपने विचार रखे। जबकि दिल्ली से पधारे डॉ. भारतेन्दु मिश्र, डॉ. राजेन्द्र गौतम तथा भोपाल के गीतकार दिवाकर वर्मा ने भी कृति के बहाने अपने मन्तव्य प्रकट किए। वक्ताओं ने एक स्वर में कहा कि कविता और गीत को दो अलग-अलग विधाओं के रूप में नहीं देखा जाना चाहिए। अलग-अलग विधाओं में देखने के कारण ही गीत और कविता के बीच में अलगाव की स्थिति पैदा हो गई है। इस प्रचार को भी निराधार बताया कि गीत खत्म हो रहा है। वक्ताओं ने हिन्दी गीत परम्परा के संदर्भ में 'और सोच में तीम' गीत संग्रह की विवेचना करते हुए कहा कि इस गीत संग्रह का सबसे बड़ा सकारात्मक पक्ष यह है कि इसमें शामिल गीत अनुभूत संवेदना के गीत हैं और पाठक तथा श्रोता को सहज ही आकर्षित करते हैं।

अपने अध्यक्षीय भाषण में कैलाशचन्द्र पंत ने लोकार्पित गीत संग्रह के गीतों के सृजन की आंतरिक धाराओं का विस्तार से विवेचन करते हुए कहा कि इन गीतों में पीड़ा के अतिरेक का बहुत ही सटीक और हृदयस्पर्शी चित्रण हुआ है। स्वागत भाषण रक्षा सिसोदिया ने दिया। संचालन प्रतिभा गुर्जर ने किया। गायक जुल्फिकार और राजकुमारी शर्मा ने दीपकजी के गीतों की संगीतमयी प्रस्तुति दी।

प्रेम के बहुरंग

टैगोर की कविता और सोनल की मुद्राएँ

एक नायिका के हृदय में बह रही प्रेम की धारा से गहरा कुछ नहीं होता। ऐसे में इस प्रेम की अभिव्यक्ति अगर खुशनुमा शाम को घुंघरुओं की खनक और गुरु रवींद्रनाथ के गीत-कविताओं के बीच हो तो भला दर्शक उसमें डूबते कैसे नहीं? खासकर जब यह अभिव्यक्ति मशहूर नृत्यांगना पद्म विभूषण डॉ. सोनल मानसिंह की हो। कलाप्रेमियों ने अपने प्रियतम के प्रेम में डूबी नायिका की आठ विभिन्न अवस्थाओं को मानव संग्रहालय भोपाल में शास्त्रीय नृत्य की विभिन्न शैलियों में देखा। सोनल ने अपनी नृत्य मुद्राओं और भावभिव्यक्ति के लिए ओडिसी, छाऊ और कथक आदि का प्रयोग किया।

शुरुआत मंगलाचरण में देवी प्रस्तुति से हुई। इसके बाद नायिका के आठ रूपों वसकसज्जा, अभिसारिका, विप्रलब्धा, विरहोत्कंठिता, खंडिता, कलहतरिता, प्रोषितपतिता तथा स्वाधनभर्त्रिका को सोनल ने नृत्य के माध्यम से कथा रूप में गढ़ा। हर नर, नारी, रचना ब्रह्माण्ड की आत्मा नायिका है इस सत्य को सोनल ने प्रतिपादित किया। नायिका के पहले रूप वसकसज्जा में नायिका प्रियतम से मिलने से पहले खुद का श्रृंगार करती है। दूसरा रूप अभिसारिका काटों व अन्य चुनौतियों को पार कर अपने प्रियतम से मिलने का किया। नायिका के पहले रूप वसकसज्जा में नायिका प्रियतम से मिलने से पहले खुद का श्रृंगार करती है। दूसरा रूप अभिसारिका काटों व अन्य चुनौतियों को पार कर अपने प्रियतम से मिलने जाती है। वहीं विप्रलब्धा अपने प्रियतम को किसी और के प्रेम में डूबा देखकर टूट जाती है और इसका वियोग सह नहीं पाती। विरहोत्कंठिता अपने प्रियतम को भूल नहीं पाती और हर जगह उसके स्वरूप को पाती है। वह उससे मिलने के लिए तरसती है। जब नायक विलंब से पहुँचता है तो वह क्रोधित हो जाती है और नायक वापस लौटजाता है। इस पर नायिका पछताती है और नायक की वापसी का इंतजार करती है।

कलाकार का काम ही बोलता है

देश में ही कई विदेशी भारतीय बैठे हैं जिन्हें देश के परिवेश, सांस्कृतिक धरोहरों और महत्वपूर्ण हरों के बारे में जानकारी नहीं होती।

यह कहना है नृत्यांगना पद्म विभूषण सोनल मानसिंह का वे कहती हैं कि युवाओं को देश की सांस्कृतिक धरोहरों और स्थापना के बारे में बताना होगा। मैं समाज को नृत्य के माध्यम से बहुत कुछ देना चाहती हूँ, इसके माध्यम से कई संदेश देने के लिए समय-समय पर कई परिवर्तन करती रहती हूँ। व्यक्ति को अपने कर्म में भरोसा रखना चाहिए क्योंकि आपका काम ही बोलता है। उन्होंने भाषा के गिरते स्तर पर चिंता व्यक्त करते हुए कहा कि इसे सुधारने के लिए जानकारों को पहल करना चाहिए। शास्त्रीय नृत्य संगीत के आयोजन के लिए आज कोई भी कमर्शियल चेनल आगे नहीं आता लेकिन दूरदर्शन एक मात्र ऐसा चैनल है, जो आज भी लोगों को इस क्षेत्र के बारे में जानकारी देता है। उन्होंने यह भी कहा कि आज यदि कृष्ण होते तो यमुना को देखकर भाग गए होते। स्कूलों में शास्त्रीय नृत्य को लेकर चल रही गतिविधियों के बारे में उन्होंने कहा कि यह बेहद खुशी की बात है कि स्कूलों ने संस्कृति सहेजने का जिम्मा उठाया है। अपने स्वभाव से जुड़े एक सवाल पर उन्होंने कहा कि मुझे तब बहुत गुस्सा आता है, जब कोई कहता कुछ है और करता कुछ है। **-शहरोज़ आफरीदी**

पाठक संवाद •••

संपादकीय पढ़कर ही अटका हुआ हूँ। 'रंगमंच' और 'नाटक' का बारीक अंतर खूब बारीकी से समझाया है चौबेजी ने। क्या 'रंगकर्म' और नाटक भी पर्यायवाची नहीं हैं? कहानी का नाट्य रूपांतर करके उसे रंगमंच पर रंगकर्म के माध्यम से प्रस्तुत किया जाए तो वह अंततः नाटक ही तो हो जाता है, वह कहानी कहाँ रह जाती है? दोनों स्कूल अंततः इसे नाटक का ही रूप तो देते हैं। 'संवाद बनायें' वाली बात ही कहानी को नाटक बना देती हैं और वह भले ही मूल में कहानी रही हो अंत में नाटक हो जाती है, ऐसा मेरा विचार है। **-चन्द्रसेन विराट, इंदौर**

●●●

'रंगसंवाद' आद्योपांत पढ़ने के बाद सुखद एहसास यह हुआ कि भोपाल से रंगमंच को समर्पित एक स्तरीय पत्रिका का प्रकाशन अंततः प्रारंभ हुआ। दुख यह भी हुआ कि पत्रिका के पूर्व के दो अंकों से रुबरु न हो पाया। पत्रिका ने रंगमंच के अलावा भी कलाओं को समेटने का अत्यंत सार्थक प्रयास किया है। सुन्दर संयोजन और प्रस्तुति के लिए विनय उपाध्याय को बधाई। संपादकीय में कहानी के रंगमंच के बारे में सटीक तथ्यपरक जानकारी दी गई है, वहीं रमेश उपाध्याय के नाट्यानुभवों से गुजरना भी कम रोमांचकारी नहीं है। विलासगुप्ते ने भविष्य के नाटक के बारे में काफी विवेचनात्मक सुझाव दिये हैं। यह कथन अत्यंत कीमती है कि ''अपनी तमाम चमक-धमक, साधन संपन्नता व मायावी आकर्षण के बावजूद इलेक्ट्रॉनिक प्रस्तुतियों में प्राण नहीं होते, जबकि नाटक में अभिनयकर्मियों व दर्शकों के हृदय साथ-साथ धड़कते हैं।'' आचार्य श्रीनिवास रथ के व्याख्यान के संपादित अंशों में आचार्य रथ ने शास्त्रीय नाटकों की मीमांसा के माध्यम से कई तथ्यों पर प्रकाश डाला है। भीमसेन जी, गुलदीदी के श्रद्धांजलि प्रसंग भी दिल को छूते हैं। कुल मिलाकर एक अत्यंत सार्थक एवं गंभीर पत्रिका प्रकाश में आई है। आग्रह यही है कि जल्द से जल्द इस पत्रिका का उचित मूल्य नर्धारण करके वृहद स्तर पर सदस्यता अभियान चलाएँ ताकि पत्रिका अनवरत इसी रूप में जारी रहे। प्रत्येक अंक में यदि एक नया नाटक भी प्रकाशित कर सकें तो उत्तम रहेगा। ऐसी स्तरीय पत्रिका में प्रूफ संबंधी गलतियां न हों तो सोने पे सुहागा।

-सत्यनारायण व्यास, इंदौर

●●●

हालांकि इसे 'संवाद पत्र' कहा गया है, लेकिन यह अंक काफी महत्वपूर्ण किताब से ज्यादा का माद्दा रखता है। सामग्री सिर्फ लिखी-छपी भर ही नहीं है वरन बोलती और अंदर से कुछ न कुछ रचनात्मक कहने की इच्छा जागृत कर देती है। इन आलेखों के लेखकों ने अन्यत्र लिखे जाने वाले लेखों की तरह महज लेख लिखने की प्रक्रिया नहीं बल्कि अपना दिल और दिमाग पाठक के समक्ष रख दिया है। जो सीधे दिल से, विचार से संवाद करता है।

सम्पादकीय में रघुवीर सहाय जी की नाटक तथा कहानी के संदर्भ में सारगर्भित बात है- ''कहानी में नाटकीयता होती है, वैसे ही हर नाटक की एक कहानी भी होती है''। बतौर नाटककार भाई रमेश उपाध्याय ने सहज और बिना लाग लपेट के दिल की बात कही है। उनके अनुभव स्वयं व्यापक फैलाव वाली 'कहानी' भी है। उनका ये आलेख नाट्यकर्मियों, साहित्य के पाठकों, का 'टेक्स्ट' रूप में भी उपयोगी है। उन्होंने नाटकों के संदर्भ में जो सुझाव दिये हैं उनमें आवश्यक गंभीर मुद्दे हैं। जिन पर व्यापक विचार किया जाना ही चाहिये। रमेश उपाध्याय जी ने लिखा है हिन्दी भाषा से प्यार करना और हिन्दी लेखकों का आदर करना सीखें हिन्दी में अच्छे नाटकों का न होने का रोना रोने और अनुवादों से काम चलाने की आदत छोड़े और हिन्दी नाटक तथा रंग कर्म को समृद्ध बनायें।'' हिन्दी की जितनी उपेक्षा और उसे किनारे करने में आज की सरकारें तथा अखबार, कालेज, संस्थाएँ लगी हैं, स्थिति विकराल है।

'भविष्य के नाटक की आहट में' डॉ. विलास गुप्ते ने आज के कुटिल दौर की असामाजिक, अराजक स्थिति बयान की है- ''शासन के गैर जिम्मेदार रुख के कारण सिनेमा व टी.वी. माध्यम स्तरहीन सौदागरों की गिरफ्त में आ चुका है'' यह एक बड़ी सच्चाई है। हीनतम नंगापन, असांस्कृतिक प्रदर्शन को ये माध्यम पूंजी, सत्ता के प्रभाव से हमलावर के रूप में बदल गये हैं वे 'भारत विजय' की तरफ बढ़ रहे हैं, ऐसे में साहित्य, नाटक, रंगकर्म, चित्रकला, सुद्रढ़ सांस्कृतिक प्रतिरोध आंदोलन के रूप में 'जनपक्ष' बन सकते हैं, जिसकी आज जरूरत है। श्रीनिवास रथ जी का लेख सामयिक संदर्भों में बहुत ही शानदार है। नाटककारों, कलाकारों को सही मार्गदर्शन देता है। कई कोणों से सोचने पर बाद्य करता है। भोपाल के रंगमंच पर अलीम बज़मी, रंगकर्मियों से चर्चा वसंत सकरगाये स्व. उत्पल दत्त, के लेख प्रभावी और सहज हैं। स्व. विभा मिश्रा का साक्षात्कार कई गंभीर प्रश्नों से रूबरू कर अनुभव की दुनिया में ले जाते हैं। संजय मेहता की डायरी बढ़िया है।

'एना की तमन्ना' बेहद सरल-सहज है। अनुपम खेर पर सुदीप सोहनी ने प्यारा लिखा है। भीमसेन जी पर विनय उपाध्याय (इस्पाती इरादों....) आत्मीयता से कलम चलाई है। सच्चिदानंद जोशी की गुलवर्धन जी पर लिखी कविताएं मन को छूती हैं। विवेक मृदुल ने स्मृति शेष में शशांक मुखर्जी और प्रज्ञा मुखर्जी पर बेहतर लिखा है वहीं ब्रजेश अनय का मनोहर आशी पर लेख अच्छा है। रेखा कस्तवार ''हस्तिनापुर'', भालचंद्र जोशी की रिपोर्ट, जैनाबादी (शरद पगारे)

तथा 'जीवन की सुंदरता का जश्न' पर विनय की टिप्पणी भी अच्छी लगी। वनमाली सृजन पीठ की रचनात्मक गतिविधियों की तमाम रिपोर्ट, अन्य सूचनाएँ पत्रिका के संवाद को आश्वस्त करती हैं। 'रंग संवाद' जैसे प्रकाशन जिस तरह वर्तमान को संवारते हैं वहीं आने वाले इतिहास के लेखन की सुदृढ़ और विश्वसनीय बुनियाद का निर्माण भी करते हैं।

पूरा अंक बढ़िया है। सृजन और रचनात्मकता से ओतप्रोत, सम्पादकीय कौशल, रचनात्मक चिंतन परकता स्पष्ट दिखती ही नहीं वरन महसूस होती है।

-जीवन सिंह ठाकुर, देवास

●●●

इस अंक के आवरण पृष्ठ ने प्रमाणित किया है कि पत्रिका के आवरण पृष्ठ में भी बहुत कुछ होता है। वह पत्रिका का प्रथमतः समग्र परिचय होता है। इस बार के आवरण पृष्ठ में कई कलाएँ समवेत स्वर में गा उठी हैं। सामग्री के मामले में तो अंक समृद्ध है ही। भोपाल के रंगमंच के बारे में बहुत कुछ कहना-जानना अभी शेष है। विभाजी का साक्षात्कार बहुत कुछ कह गया है। शशांक-प्रज्ञा की रंग-जोड़ी के बारे में भी बहुत कुछ जाना। इकबाल मजीद के पीछे पड़कर रंगकर्म पर लिखवाइये न।

-युगेश शर्मा, भोपाल

●●●

श्रीनिवास रथ के व्याख्यान का संपादित अंश परिश्रम पूर्वक यह सिद्ध किया है कि संस्कृत नाटक कला निरपेक्ष नहीं होते। उनमें भी समसामयिकता के तत्व होते हैं। गुलवर्धन, मुखर्जी दंपत्ति, मनोहर आशी के साथ-साथ भीमसेन जोशी की याद कर आपने कलाओं के अंतःसंबंधों के प्रति आदर प्रकट किया है। यह अच्छा चलन है कि साहित्यिक एवं कलाधर्मी पत्रिकाओं द्वारा अन्य कलाओं की गतिविधियों को भी स्थान दिया जा रहा है। आपके सम्पादन कौशल को समुचित संरक्षण मिलता रहे यही अपेक्षा।

-विलास गुप्ते, इंदौर

●●●

'रंग संवाद' के संदर्भ में, राजा रवि वर्मा का कथन ''भारत में पूर्वजों को याद करने की परम्परा है'' अक्षरशः सत्य प्रतीत होता है। आज के इस संवेदनहीन काल में जब वयोवृद्ध माँ-बाप को आश्रमों की ओर ढकेला जा रहा है। ऐसे समय में स्व. परमपूज्य माँ-बापू की स्मृतियों को सहेजने, उनके गुण गाथाओं को अक्षुण्ण बनाने के हर सम्भव प्रयासों को अंजाम देने के लिए वनमाली सृजन पीठ की स्थापना एवं उसका संवाद पत्र निकालने की पहल की। तारीफ की जानी चाहिए। उद्देश्यों की पूर्ति में पत्रिका का हरेक पन्ना तालियाँ बजा-बजा कर एक पाँव खड़ा है। नाट्य कला के विविध पहलुओं का सांगोपांग वर्णन कर उसको सहेजने योग्य दस्तावेज बना दिया है। श्वेत श्याम चित्रों ने अंतर्वस्तु का रहस्य खोलने में सहयोग दिया है। साहित्य, संगीत, कला की मनोरम झाँकियाँ, पाठक को आदि से अंत तक बाँधे रखती हैं। रंगीन मुखपृष्ठ एवं अंतिम दृश्य, निःसंदेह, अलौकिक बन पड़े हैं। पूरी पत्रिका में कुशल संपादन की छाप है।

-जय जय राम आनंद, भोपाल

●●●

'रंग संवाद' का तीसरा अंक मिला। देखकर जी दुखता है कि पिछले अंक क्यों नहीं देख पाया! प्रस्तुति का मुहावरा ही कुछ जुदा है। इसे कहते हैं समावेशी पत्रिका।

-पल्लव, दिल्ली

●●●

कला-संस्कृति विषयक सामग्री और विशेषकर समारोहों की रपटों को शामिल कर आपने लोकतांत्रिक नीयत का परिचय दिया है। मैं विनय उपाध्याय के इस कौशल और सुयश का प्रशंसक हूँ।

-रामअधीर, भोपाल

●●●

क्या ही अद्‌भुत है 'रंग संवाद' का संयोजन-संपादन। नाटकों और उसकी सहायक कलाओं को लेकर इतनी सुचिंतित विविधता पहली बार किसी पत्रिका में देखने मिली। भीमसेन जोशी और गुलवर्द्धन पर विनयजी ने हार्दिकता से कलम चलाई है। संपादकीय में कहानी के रंगमंच पर संतोषजी ने जो मुद्दे उठाए हैं उनके प्रति सहमति के बावजूद लगता है कि विषय को विस्तार दिया जा सकता था।

-प्रतिभा सिंह, झारखंड

●●●

एम.ए. बाथम (भासिमपुर, आसाम), धनपत सिंह, डालावास (हरियाणा), गिरिमोहन गुरु (होशंगाबाद), डॉ. लता अग्रवाल (भोपाल), रघु ठाकुर (दिल्ली), मुकेश कुमार (आगरा), देवांशु पाल (बिलासपुर), बंशीधर अग्रवाल (सूरत), अरुण पंढरी पाण्डे (भोपाल), जितेन्द्र मोदी (बैरागढ़), प्रदीप नवीन (इंदौर), श्रीराम परिहार (खंडवा) की प्रतिक्रियाएँ भी मिलीं।

चित्र : प्रफुल्ल नागड़ा

AISECT UNIVERSITY

ESTABLISHED UNDER SECTION 2(F) OF THE UGC ACT BY GOVT. OF M. P. ACT NO. 27 OF 2010, LOCATED NEAR BHOPAL

25 YEARS OF BUILDING CAREERS

Once a dream... Now a reality

Launching M.P's premier University for world-class education

The Engineering Undergraduate programs of AISECT University have been approved by AICTE

The B.Ed. program of AISECT University has been approved by NCTE

Salient Features :

- Highly Experienced Faculty
- State-of-the-art Labs & Classrooms
- Wi-Fi Campus
- Personality Grooming
- Transport Facility

We invite applications for various Faculty & Administrative positions at the University. Apply with your CVs at careers@aisectuniversity.ac.in

From India's leading name in Education - AISECT

AISECT, an ISO 9001: 2008 certified organization, established in 1985, is today one of India's most reputed and trusted Education Groups which houses private Universities, Engineering Colleges & Professional Institutions.

The AISECT University is being launched with a vision to transform its students into competent, inspired and responsible professionals and we are confident we will achieve our objective.

PROGRAMMES OFFERED

Engineering and Technology	Computer Science and Information Technology	Management
M. Tech.	M. Sc. (IT)	**MBA**
CS	M. Sc. (CS)	Marketing
IT	BCA	Finance
Digital Communication	PGDCA	HR
B.E.	DCA	Systems
CS		Rural Management
EC		Insurance & Risk Management
IT		**BBA**
Mechanical		
Civil		

Commerce	Education	M. Phil./Ph.D. Programmes
M. Com.	B. Ed.	Management
Regular	Diploma in Computer Education (D.C.Ed.)	Commerce
Taxation & Finance	Diploma in Primary Education (D.P.E.)	Chemistry
B. Com.		Physics
		Mathematics
		Education
		IT
		Computer Science
		Electronics

Other Upcoming Faculties & Institutes at AISECT University

Faculty of Law	Institute of Teacher's Training
Faculty of Arts	Institute of Vocational Education
Faculty of Science	Institute of Rural Management

Register yourself by filling up the Enquiry Form on www.aisectuniversity.ac.in

For enquiries & other information, contact us at

M. : 07697728281, 07697791091

E-mail: info@aisectuniversity.ac.in

AISECT UNIVERSITY, BHOPAL-CHIKLOD ROAD, NEAR BANGRASIA CHOURAHA, BHOPAL, MP Ph: 07480-295707

CITY OFFICE : 3RD FLOOR, SARNATH COMPLEX, BOARD OFFICE SQUARE, SHIVAJI NAGAR, BHOPAL-462016, PH. : 0755-2460968, 4289606